चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 11 अंक 3 जनवरी-मार्च 2014

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कमार

सलाहकार सम्पादक

कमलेश

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753. सभाष पार्क. नवीन शाहदरा. दिल्ली-32 द्वारा मद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दष्टि. विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

	सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1.	'ते श्रोता-वक्ता समशीला'—स्वामी विवेकानंद के भारतीय व्यख्यान *रमेशचंद्र शाह*	7
2.	इतिहास की वर्तमानता *भगवान सिंह*	15
3.	पूर्णता के कुछ बिम्ब *रिचर्ड लेनाय*	25
4.	भारतीयता की पहचान *कैलाशचंद्र पंत*	33
5.	रवीन्द्र शर्मा (गरुजी) की बातचीत का महत्व *कमलेश*	41
6.	गुरुजी का विमर्श *पवनकमार गप्त*	49
7.	महाभारत : युद्ध विरोधी काव्य *प्रभाकर श्रोत्रिय*	55
8.	धारा 370—बहस के मद्दे *शंकर शरण*	59
9.	भारतीय अवधारणा. समझ और व्यवहार में नारी *मदला सिन्हा*	67

11. हिंदी का असंगत नाटक साहित्य 74
डॉ. नानासाहेब गोरे

12. रामराज्य की अवधारणाएँ और हमारा लोकतन्त्र 82
शोभाकान्त झा

13. वेबमीडिया और हिन्दी 88
नीलम पाण्डेय

14. भारतीय मूल की प्रकृति प्रदत्त अग्नि-तत्त्व
गुण प्रधान वनस्पति-अरणि-अग्निमंथ 96
बाबलाल शर्मा

10. निवेदन 111
हिन्दी भाषा की वर्तनी
कल्पना

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

बाजारवाद एवं आधुनिकता का संकट

दो बातें हमारी समस्याओं की जड़ में रही हैं, सामाजिक जीवन में मूल्यों का ह्रास तथा लगातार बढ़ती उपभोक्तावादी प्रवृत्ति। इन दोनों के बीच सम्बन्ध भी प्रगाढ़ रहा है। हमारे परम्परा-प्रदत्त मूल्य उपभोग की स्वीकृति तो देते थे, असीमित उपभोग की नहीं। इसलिए हमारे रहन-सहन का ढंग सादा था। वस्तु-संग्रह या धन-संग्रह की प्रवृत्ति के अभाव के चलते समाज के हर व्यक्ति को आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती थीं। आवश्यकता कम होने से भ्रष्टाचार भी कम था। सामाजिक लगाव की अधिकता के चलते व्यक्ति दूसरे के सुख दुख के प्रति असंवेदनशील नहीं हो पाता था।

आज स्थिति अलग है। मूल्यों के ह्रास के कारण न सामाजिक नियन्त्रण है और न व्यक्ति में आत्म नियन्त्रण। ऊपर से टेलीविजन चैनलों पर लगातार आ रहे विज्ञापनों एवं बाजार का दबाव। ऐसे में लोग भ्रष्ट बन रहे हैं। जन-संसाधनों की लूट चलती रहती है। फिर पहले जहाँ कुछ लाखों या करोड़ों की लूट होती थी, आज वह बढ़ कर लाख-करोड़ों का आँकड़ा छू रही है। मूल्यों के ह्रास के साथ ही न कानून का भय रह गया है और न सामाजिक प्रतिष्ठा का। पहले मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को नियन्त्रि किये रहता था, समाज में अपनी प्रतिष्ठा बचाये रखना चाहता था, आज ऐसा नहीं है। आज ऊँचे पदों पर बैठे लोग अधिक भ्रष्ट हैं। प्रकटतः ऊँचे पदों पर गलत लोग अधिक संख्या में पहुँच रहे हैं। स्थिति दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही है। सरकारी स्तर पर भ्रष्टाचार-निरोधक कानून बनते हैं, नये विभाग खलते हैं. अफसर नियक्त किये जाते हैं, लेकिन भ्रष्टाचार रुक नहीं पाता।

यही हाल दूसरे अपराधों का भी है। कुछ समय पहले चलती बस से एक लड़की का शील-हरण कर फिर उसे बुरी तरह से घायल कर, मृत समझ, चलती बस से फेंक दिया गया था। घटना के विरुद्ध रैलियाँ हुईं, संसद तक में रोष व्यक्त किया गया, लेकिन लगता नहीं कि स्थिति में बहुत बदलाव आया है। न कानून-व्यवस्था की मशीन ठीक से चल पाती है और न न्याय शीघ्रता से मिल पाता है। स्पष्टतः स्थिति बदलाव खोजती है।

सवाल उठता है कि हम करें क्या? आज की समस्याओं पर नजर डालने पर दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं कि केवल कानून बना कर समस्याओं से छुटकारा पाना सम्भव नहीं। फिर नये कानूनों, विभागों एवं सरकारी तन्त्र की बढ़ोतरी से व्यवस्था की जकड़न दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है, जो नागरिक समाज के हित में नहीं है। अभी अभी अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार के विरूद्ध आन्दोलन चला था। उनकी माँग के

अनुसार लोकपाल विधेयक पारित किया जा चुका है। यह सही है कि लोकपाल की नियुक्ति से भ्रष्टाचार में अपेक्षाकृत कमी आयेगी, लेकिन अन्य सभी प्रकार के अपराधों में तो ऐसा नहीं ही होगा। इसके लिए हमारी सोच में परिवर्तन आवश्यक है, जो समाज में मूल्यों की पुनर्स्थापना के बिना सम्भव नहीं। फिर मल्यों की पनर्स्थापन शिक्षा में अपेक्षित बदलाव द्वारा ही सम्भव है।

जैसा यहाँ ऊपर कहा गया है, लोगों पर बाजार का दबाव बढ़ा है। अधिकाधिक उपभोग की प्रवृत्ति न केवल मूल्यों के अभाव के चलते बल्कि बाजार के दबाव के चलते भी बढ़ी है। अधिक उपभोग समाज में प्रतिष्ठा का मानक बन गया है। देश के स्तर पर भारत को अमेरिका बनाने की होड़ लगी है। फिर गलत शिक्षा-नीति के चलते हमारे बीच न केवल दृष्टि-दोष आया है, खण्डित इतिहासबोध एवं खण्डित समाजबोध पैदा हआ है, बल्कि आत्म-अस्वीकार की प्रवृत्ति भी लगातार बढ़ती गयी है।

आयातित विचारों से प्रेरणा लेना बुरा नहीं जब तक हमारे अपने विचारों के श्रोत सूख ही न गये हों। किन्तु उन पर पूरी तरह निर्भर होना तो घातक है। हमारे साथ ऐसा ही हुआ है। विडम्बनात्मक स्थिति तो ऐसी है कि न केवल समाज-विज्ञान के क्षेत्र में, बल्कि सर्जनात्मक लेखन के क्षेत्र में भी आयातित विचारधाराओं का वर्चस्व कायम हुआ है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ से ही हमने अपने परम्परागत ज्ञान को रूढ़ि या फिर अज्ञान की श्रेणी में रखना शुरु किया था। उपनिवेशी शिक्षा के प्रसार के साथ यह प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गयी। वस्तुतः परम्परा-प्रदत्त ज्ञान प्राप्त व्यक्ति भी शिक्षित ही होता है भले ही उसे विद्यालयीन शिक्षा प्राप्त न हो। किन्तु उल्लिखित प्रवृत्ति के चलते हमने अपने परम्परा-प्रदत्त ज्ञान को खोया है। फिर भी जो भी बचा है. उसे समेटने का शीघ्र प्रयास होना चाहिए।

भारत तथा तीसरी दुनिया के अन्य देशों में पश्चिमी जीवन शैली अपनाने की होड़, विशेषतः सम्पूर्ण देश को अमेरिका बनाने की होड़ का दुष्प्रभाव न केवल समाज पर, बल्कि प्रकृत्ति पर भी पड़ा है। यह भोंड़ी नकल आधुनिक बनने के नाम पर चलती रही है, जिसने न केवल हमारी परम्परागत समाज व्यवस्था को बुरी तरह क्षतिग्रस्त किया है, हमसे हमारे सांस्कृतिक एवं बौद्धिक दाय को छीना है, और प्रदूषण की अधिकता भी पैदा किया है। स्पष्टतः ऐसा लम्बे समय तक चल नहीं सकता। आवश्यक है कि हम अपनी सोच बदलें, जीवनशैली बदलें, अपनी खोयी हुई निजता को फिर से प्राप्त करें। इसके लिए शिक्षा में बदलाव आवश्यक है। हमें इसके लिए सम्मिलित प्रयास करना चाहिए।

—ब्रज बिहारी कमार

'ते श्रोता-वक्ता समशीला'
स्वामी विवेकानंद के भारतीय व्यख्यान

रमेशचंद्र शाह*

स्वामी विवेकानंद के बारे में कुछ भी बोलने या लिखने का उपक्रम करने के चलते ही मन में आप पात्रता को लेकर भारी संदेह उपज आया है। भला क्यों? बचपन से ही उनके बारे में सुनता आया था—ऐसे वृयोवृद्ध लोगों के मुख से, जिन्होंने खुद अपने बचपन में उन्हें प्रत्यक्ष देखा-सुना था। अल्मोड़ा में, मेरे घर के बगल में ही वह घर है, जहाँ स्वामीजी अपने प्रवास के दौरान ठहरे थे—अपने परम भक्त और शिष्य स्व. बद्री शाह के आतिथ्य में जाने कब से कितने श्रद्धालुओं को उस कोठरी का दर्शन करते, वहाँ मत्था टेकते देखा होगा मैंने। यों स्वामीजी मेरी स्मति में एक जीवंत पराण से कम नहीं।

अलावा इसके, एक और संयोग भी तो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वयस्कता की देहरी पर ही—कहना चाहिए, अपने साहित्यिक—जीवन का शुभारंभ ही—मैंने 'प्रबुद्ध भारत' में लेख लिखने से किया था सन् 1931 से 1934 के बीच; और जब 1914 में भारत के इस सर्वाधिक प्राचीन अंग्रेजी त्रैमासिक की जन्मशती मनाई जानेवाली थी तो उसके तत्कालीन प्रधान संपादक, जो अनिवार्यतः बेलूर मठ के वरिष्ठतम स्वामीजी होते हैं—ने मुझे प्रबुद्ध भारत के साथ अपने पुराने संबध का हवाला देते हुए अपने शताब्दी विशेषांक में लेख लिखने को आमंत्रित किया। 'ऐसो कोउ उदार जग माँही?' उसी विशेषांक से मुझे यह बेहद दिलचस्प जानकारी मिली, कि मायावती का अद्वैत आश्रम तो बाद में 'प्रबुद्ध भारत' का प्रकाशन-कार्यालय बना; प्रारंभ तो उसका अल्मोड़ा से ही हुआ था : तब, जब मोटर-सड़क भी नहीं बनी थी। कितनी मश्किलों से ढोकर लाई गई होगी छापे की मशीन उस पहाडी नगर तक!

*एम-4, निराला नगर. भदभदा रोड. भोपाल रोड. भोपाल-432003. फोन : 07442774314
ई-मेल : aakhar@gmail.com

अविस्मरणीय है वह संयोग भी, जब इसी निमित्त से मुझे पहली बार अद्वैत आश्रम, मायावती जाने और वहाँ के आरण्यक परिवेश में एक सप्ताह रहने का दुर्लभ अवसर मिला था। यह आश्रम स्वामी विवेकानंद के अंतर्जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न था, जो उनके परमप्रिय शिष्य 'सेवियर दंपति' के सहयोग से साकार हुआ था। उस प्रवास के मूल्यवान अनुभवों को मैं अन्यत्र सँजा चुका हूँ—उन्हें यहाँ दुहराऊँगा नहीं। किंतु 'विवेकानंद ग्रंथावली' समूची पढ़ने की प्रेरणा और सौभाग्य मुझे नहीं उपलब्ध हुआ था : 'स्वामी अनन्यानंद और स्वामी भजनानंद के अमल्य सत्संग लाभ के साथ-साथ।

इस पृष्ठभूमि के साथ अपनी अपात्रता की तीसरी अनुभूति का यह विषम योग, जिसे एक तरह का 'विषाद-योग' कहना अधिक सटीक होगा—मझ पर अचानक क्यों हावी हो गई है?

पिछले एक सप्ताह से मैं स्वामी विवेकानन्द के 'भारतीय व्याख्यान' (निराला के हिंदी अनुवाद में) पढ़ने में डूबा रहा हूँ। विश्वास ही नहीं होता कि ये व्याख्यान मैं बहुत पहले पढ़ चुका हूँ। क्या चालीस वर्ष का अंतराल इतना बड़ा होता है कि आदमी का खुद अपना जिया-भोग भी उसकी पहुँच से बाहर जा जाए? ये व्याख्यान तो अपने आप में हमारी जातीय स्मृति को जगाने के, भारतीय मनुष्य की आत्मविस्मृति के अमोघ इलाज के भी अप्रतिम साधन और उदाहरण हैं। इन्हें कैसे कोई भूल सकता है? नवीं कक्षा में पढ़ता था 1951 में, तब कोर्स की अंग्रेजी की किताब में सिस्टर निवेदिता (स्वामी विवेकानंद की आयरिश शिष्या) द्वारा पुनर्लिखित एक पौराणिक कथा पढ़ी थी—जिसकी छाप अभी तक मन पर अमिट है। आज के छात्रों में अधिकांश ने उनका नाम तक नहीं सुना है। यह कैसा व्यंग्य विपर्यय है! परंत मेरी पीढी तो कछ बेहतर ढंग से शिक्षित हुई थी, उसने *क्या किया?*

'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है/इच्छा क्यों पूरी हो मन की? एक दूसरे से न मिल सके/यह विडंबना है जीवन की।' आखिर क्यों नहीं ये व्याख्यान भारतीय विश्वविद्यालयों के तथाकथित 'फाउंडेशन कोर्स' में कहीं भी जगह पा सके? प्राचीन भारत की तो बात ही छोड़िए, अर्वाचीन और ठेठ बीसवीं सदी की भारतीय प्रतिभाओं को भी स्वातंत्र्येत्तर भारत की शिक्षा, संस्थाओं में कितना कैसा स्थान मिला है? यह कैसी आत्महीनता और परोपजीवी मानसिकता स्वातंत्र्योत्तर (कहना चाहिए. दास्योत्तर) भारत में घर कर गई? इसे प्रज्ञापराध नहीं, तो और क्या कहेंगे!

मैंने ऊपर जिस भारी संदेह की—विषाद-योग की—बात की, उसका कारण यही है। यह लीजिए मद्रास में दिया गया भाषण स्वामी विवेकानंद का—'मेरी क्रांतिकारी योजना'; शीर्षक; क्या कह रहे हैं स्वामीजी इस उद्‌बोधन में? तनिक सुनिए—

"....आखिर अंग्रेज़ों और तुममें किसलिए इतना अंतर है? अंतर यही है कि अंग्रेज अपने ऊपर विश्वास करता है और तम नहीं। अंग्रेज इस विश्वास के बल पर

जो चाहता है, वही करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत, लोग तुझसे कहते आए हैं, तुम्हें सिखाते आए हैं कि तुम कुछ भी नहीं हो, तुम कुछ भी नहीं कर सकते, और फलस्वरूप तुम आज इस प्रकार अकर्मण्य हो गए हो। अतएव, हमारी आज की सबसे बड़ी जरूरत है—आत्म-बल, अपने में अटूट विश्वास। ...अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनष्य बन सकें। हमें ऐसी सर्वांग-संपन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके।"

ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी रहस्यवाद में नहीं उलझते, उलटे उससे सावधन करते हैं—उपनिषद्‌ को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए भी। कहते हैं—"ऐ मेरे भावी सुधारको! मेरे भावी देशभक्तों! क्या तुम अपनी बुद्धि से ज्यादा अपने हृदय में अनुभव करते हो, कि देव और ऋषियों की संतानें आज पशुतुल्य हो गई हैं? क्या देश की दुर्दशा की चिंता ही तुम्हारे ध्यान का एक मात्र विषय बन बैठी है? यदि हाँ, तो तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है। केवल पहली सीढ़ी पर ही।" स्वामीजी अपनी अमेरिका-यात्रा की उस विजयोपलब्धि को लेकर भी—जिसने पूरे देश-विदेश में उनके नाम की धूम मचा दी है—व्यर्थ की भावुकता छाँटने का कोई कारण नहीं देखते। वे उस घटना को सही संदर्भ में रखते हुए एक बड़ी चौंकानेवाली बात कहते हैं। चौंकानेवाली, यानी हमें बहुत भीतर तक झिंझोड़कर रख देनेवाली बात। जो आज एक शताब्दी से भी अधिक अंतराल के बाद भी हमारे सिर पर चढ़कर बोलती है। क्या कोई और ऐसा कह सकता था? क्या इस स्वीकारोक्ति के मर्म को, उसमें निहित 'दर्द' को हम आज भी यथातथ्य अनभव करते हैं— समझ सकते हैं सचमच? स्वामीजी कहते हैं—

"...मैं अमेरिका विश्व-धर्म महासभा के लिए नहीं गया, वरन्‌ इस भावना (देश-दुदर्शा की) का दैत्य, मुझमें, मेरी आत्मा में था। मैं पूरे बारह वर्ष सारे देश में घूमता रहा, पर अपने देशवासियों के लिए कार्य करने का मुझे कोई रास्ता ही नहीं मिला! यही कारण था कि मैं अमेरिका गया। इस धर्म—महासभा की किसे परवाह थी? यहाँ मेरे देशवासी, मेरे ही रक्त-मांसमय देहस्वरूप मेरे देशवासी दिनोदिन डबते जा रहे थे। उनकी कौन खबर ले!"

स्वामीजी विचार-शक्ति से भी अधिक महत्त्व इस 'हृदय की अनुभव-शक्ति' को देते हैं, किंतु उसी पर नहीं रुकते। वे सच्चे कर्मयोगी हैं—तुरंत कर्म पर आ जाते हैं। इच्छाशक्ति को क्रियाशक्ति में परिणत करने पर। उस वक्त प्रचलित सुधारवाद उन्हें नाकाफी ही नहीं, उलटे अनर्थकारी भी लगता था। शायद ही भारत के किसी अन्य मनीषी ने सुधारवाद की सीमाओं का इतना स्पष्ट पारदर्शन किया होगा, जितना स्वामी विवेकानंद ने। रामनाद में दिया गया उनका भाषण पढ़िए। आपकी आँखें खुल जाएँगी। इतने उत्कट आदर्शवादी के साथ इतनी जबर्दस्त यथार्थवादिता आपको और कहाँ मिलेगी! इन व्याख्यानों की वेधक-शक्ति इसी दलर्भ मेल और संतलन में है. जिसे

आज की तारीख में एक बार फिर से रेखांकित किया जाना अनिवार्य लग उठता है। वे यह घोषित करते हैं—"किंतु कुछ भोग भोगे बिना इस आदर्श तक मनुष्य नहीं पहुँच सकता। प्रत्येक समाज में अज्ञानी लोग हैं। संसार की असारता समझने के लिए उन्हें भोग भोगना पड़ेगा। तभी वे वैराग्य धारण करने में समर्थ होंगे। हमारे शास्त्रों में इन सबके लिए यथेष्ठ व्यवस्था है। दुःख का विषय है कि परवर्ती काल में समाज के प्रत्येक मनुष्य को सन्यासी के नियमों से बाँधने की चेष्टा की गई, यह एक बड़ी भारी भूल हमसे हुई। भारत में जो दुःख और दरिद्रता दिखाई देती है, उनमें से अधिकांश का कारण यही भूल है। *गरीब जनता के जीवन को इतने कड़े धार्मिक और नैतिक बंधनो में जकड़ दिया गया है, जिनसे उनका कोई लाभ नहीं है। उनके जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप मत कीजिए। उन्हें भी संसार का थोड़ा आनंद लेने दीजिए। तब आप देखेंगे कि वे क्रमशः उन्नत होते जाते हैं। और बिना किसी विशेष प्रयत्न के उनके हृदय मे आप ही आप त्याग का उद्रेक होगा।'*

स्वामीजी उस तरह के वैदिक आतंकवाद के तार्किक प्रवक्ता नहीं हैं, जिस तरह जयशंकर प्रसाद। न ही वे श्रीअरविंद की भाँति शंकर मायावाद के प्रत्याख्यान को उसकी तार्किक परिणति तक ले जाकर अपनी सुदीर्घ योगलभ्य साधना के साथ वैदिक—अंतर्दृष्टियों का अपूर्व सामंजस्य बिठाते हुए आधुनिक विज्ञान-युग की चुनौतियाँ स्वीकार करते हुए परमात्म—विज्ञान का एक नया भविष्य-दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उनका भावादिष्ट स्वर हमें बंकिम के 'आनंदमठ' में वर्णित संन्यासी-विद्रोह की विफलता से उत्पन्न उद्वेग और तज्जनित आत्म-स्वीकरण की एक नई चुनौती स्वीकारनेवाली संकल्पशीलता का स्मरण करा देता है। वे पश्चिम की प्राण-शक्ति को सराहते और उससे जरूरी प्रेरणा प्राप्त करके आगे बढ़ने के लिए अपने देशवासियों का आह्वान करते हैं। पर यहाँ भी उनका अचूक मात्रा-ज्ञान और विवेकमत्ता हमें चेतावनी देती है। यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य है कि हमने उनकी इस चेतावनी को अनदेखा किया, जिसका कुफल हम अभी तक भोग रहे हैं। स्वामीजी के ही स्वर में सनें उस चेतावनी को, जो आज भी उतनी ही प्रखर प्रासंगिक है—

"सज्जनो! पाश्चात्य जातियों से हम थोड़ा—बहुत यह जीवनी—शक्ति का पाठ सीख सकते हैं। किंतु सीखते हुए हमें बहुत सावधान रहना होगा।"

स्वामीजी हमें चौंकाते हुए संस्कृत और संस्कृति का अभेद स्थापित कर देते हैं, यह कहते हुए कि "जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, वह बहुत कुछ जान जाएगी, परंतु साथ ही कुछ और भी जरूरी है, उसका संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती।" यहाँ संस्कृति में संस्कृत अंतर्निहित है, दोनों एक हैं।

इस समय भारत में हमारे मार्ग में दो बड़ी रुकावटें हैं—एक ओर हमारा प्राचीन हिंद समाज और दसरी ओर अर्वाचीन यरोपीय सभ्यता। इन दोनों में किसी एक को

ही चुनना पड़े तो मैं प्राचीन हिंदू समाज को ही पसंद करूँगा। क्योंकि अज्ञानी—अपक्व होने पर भी कट्टर हिंदुओं के हृदय में एक विश्वास का बल है, जिससे वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। किंतु विलायती रंग में रँगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदंड-विहीन होता है; वह इधर-उधर के स्रोतों से एकत्र किए हुए कच्चे विशृंखल, बेमेल भावों की असंतुलित ढेरी भर है। वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता, उसका सिर हमेशा चक्कर खाता रहता है। अंग्रेज़ों से थोड़ी शाबासी पा लेना ही उसके सब कार्यों का मूल प्रेरक है। वह जो समाज सुधार के लिए अग्रसर होता है, हमारी कितनी ही सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध तीव्र आक्रमण करता है, इसका मुख्य कारण यह है कि इसके लिए उन्हें साहबों से वाहवाही मिलती है। हमारी प्रथाएँ इसीलिए दोषपूर्ण हैं कि साहब लोग उन्हें दोषपूर्ण कहते हैं। मुझे ऐसे लोग पंसद नहीं हैं। अपने बल पर खडे रहिए—चाहे जिएँ. चाहे मरें। यदि जगत् में कोई पाप है तो वह है दुर्बलता।"

कहना आवश्यक है कि आज भी हमारा—हमारे तथाकथित बुद्धिजीवियों का—यही हाल है। साहब भले ही वे नहीं रहे, बदल गए, तो इससे क्या फर्क पड़ा, मुसाहबी तो बरक़रार है। गुलाम, औपनिवेशिक जेहनियत से ग्रस्त लोगों को अपने आपको औपनिवेशिक बनाकर उसमें रहने से कौन रोक सकता है? विचार-स्वातंत्र्य की पराकष्ठा को जीनेवाले इस देश में किसी एक विचारधारा की गुलामी ढोना भी गुलामी ही कहलाएगा, यह कौन किसे समझाए? और इस अतुलनीय विचार-स्वातंत्र्यक को, मनुष्य की इस आंतरिक स्वाधीनता को संभव बनाने का श्रेय आखिर किसे जाता है? निश्चय ही इसी देश द्वारा तपस्यापूर्वक अर्जित और साक्षात्कृत 'धर्म' को ही न, जो किसी भी मतवाद की चहारदीवारी में नहीं बाँधा जा सकता है, किंतु इसी व्यापकता के कारण किसी भी ग्रंथ का बहिष्कार-तिरस्कार या दमन भी नहीं कर सकता। तभी स्वामीजी की वह बारंबार टेक की तरह इन व्याख्यानों में दोहराई गई बात हमारे सिर पर चढ़कर बोलती है कि "धर्म ही भारतीय जीवन का मूल्यांकन है।" और यह भी कि "भारत के लिए कार्य करने का एकमात्र संभाव्य उपाय भी यही है।" 'भारत का भविष्य' शीर्षक व्याख्यान इस दृष्टि से यहाँ पर विशेष उद्धरणीय और मनवीय है। सनें तो सही, स्वामीजी इसमें क्या कहते हैं—

"...हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, और यही नहीं, हमारे राष्ट्रीय जीवन का का भी मूल आधार है।...तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ पुरुषार्थ किया था, उस पर सबकुछ निछावर किया था। विदेशी विजेताओं द्वार मंदिर के बाद मंदिर तोड़े गए, परंतु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मंदिर के कलश फिर खड़े हो गए। दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मंदिर और गुजरात के सोमनाथ जैसे मंदिर तुम्हें विपुल ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अंतर्दृष्टि देंगे, जो ढेरों पुस्तकों से भी नहीं मिल सकती है।...मेरे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि राजनीतिक या

सामाजिक उन्नति अनावश्यक है; किंतु ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कछ और। अतः धर्म को ही सशक्त बनाना होगा। पर यह किया कैसे जाए?"

आगे इसी व्याख्यान में स्वामीजी 'इसे किया कैसे जाए' का खुलासा करते हैं—ऐसा खुलासा जैसे उनसे पहले (और शायद उनके बाद भी) अन्य किसी ने नहीं किया। उन्हीं के शब्दों में—

"मेरा विचार है, पहले हमारे शास्त्र—ग्रंथों में भरे पड़े आध्यात्मिकता के रत्नों को, जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, बाहर नहीं हुए हैं, बाहर लाना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हैं, केवल उन्हीं से इस ज्ञान का उद्धार करना पर्याप्त न होगा, वरन् उससे भी दुर्भेद्य पेटिका, अर्थात् जिस भाषा में सुरक्षित हैं, उस संस्कृत भाषा के अभेद्य शब्दजाल से उन्हें निकालना होगा। *मैं इन तत्त्वों को निकालकर भारत के प्रत्येक मनुष्य की सामान्य संपत्ति बनाना चाहता हूँ। इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई हमारी गौरवशाली संस्कृत भाषा ही है, और यह कठिनाई तब तक दूर नहीं हो सकती. जब तक हमारे राष्ट के सभी मनष्य संस्कत के अच्छे विद्वान न हो जाएँ।"*

स्वामीजी अनुभव करते हैं कि सामान्य बोलचाल की भाषा में उन महान् विचारों की शिक्षा देनी होगी। किंतु साथ ही वे यह कहना भी नहीं भूलते की *"संस्कृत की शिक्षा भी साथ ही चलनी चाहिए।"* इसलिए कि "संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक प्रकार का गौरव और शक्ति प्राप्त हो जाती है।" यह बात इस तरह किसी ने नहीं कहीं है; किंतु यह कितनी सच्ची और धर्म की बात है, इसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव से जाननेवाले ही जान सकते हैं। स्वामीजी इसी में एक और बड़ी जोरदार बात जोड़ देते हैं : यह कि महान् धर्माचार्य रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था, उसमें उन्हें अपने ही जीवनकाल में अद्भुत सफलता मिली थी। किंतु उनके तिरोभाव के एक शताब्दी के भीतर ही वह उन्नति क्यों रुक गई? इसलिए रुक गई कि "उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगाई। यहाँ तक भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत भाषा का अध्ययन ही बंद कर दिया। ज्ञान का विस्तार हुआ तो सही, पर उनके साथ-साथ प्रतिष्ठा नहीं बनी, संस्कार नहीं बना।" स्वामीजी हमें चौंकाते हुए संस्कृत और संस्कृति का अभेद स्थापित कर देते हैं, यह कहते हुए कि "जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, वह बहुत कुछ जान जाएगी, परंतु साथ ही कुछ और भी जरूरी है, उसको संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती है।" यहाँ संस्कति में संस्कत अंतर्निहित है. दोनों एक हैं।

बेशक आज के हमारे बुद्धिजीवियों को, हर तरह की सत्ता के शीर्ष पर बैठे हुए लोगों को स्वामीजी की यह बात आसानी से पचेगी नहीं। उन्हें इसमें तर्क नहीं, भावुकता या 'पुनरुत्थानवाद' ही दिखेगा या फिर 'प्रतिक्रियावाद'। इसलिए कि उन्होंने यही भाषा सीखी है, इन्हीं टकसाली शब्दों के बूते उनका बुद्धि-व्यापार ही नहीं, संवेदना, का व्यापार भी चलता है और फलता भी रहा है। ऐसे छायाजीवी विवेकानंद के समय भी रहे ही होंगे। पर उन्हें उनकी रत्ती भर भी परवाह नहीं है। वे साफ शब्दों में अपने हृदय की बात कहते हैं। सुनिए जरा—

"ऐ पिछड़ी जाति के लोगों, मैं तुम्हे बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एक मात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है। और यह लड़ना-झगड़ना, उच्च वर्गों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। इससे लड़ाई-झगड़े और बढ़ेंगे, और यह जाति दुर्भाग्यवश पहले ही जिसके टुकड़े-टुकड़े हो चुके हैं, और भी टुकड़ों में बँटती रहेगी। जातियों में ममता लाने के लिए एकमात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है, जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि तम कर सको जो कुछ तुम चाहते हो, वह सब तुम्हें मिल जाएगा।"

पिछड़े वर्गों की समस्या के साथ ही स्वामीजी इस भाषण में उत्तर-दक्षिण और आर्य-द्रविड़ का भेदभाव फैलानेवालों की चेष्टाओं की भी खूब खबर लेते हैं..."ऐसा वाहियात बातों पर विश्वास मत करो," वे कहते हैं—"वे सब आर्य ही हैं और उत्तर से आए। सारे भारत के मनुष्य आर्यों के सिवा और कोई नहीं।"

आर्यों के बाहरी आक्रांता होने का भी उन्होंने जबरदस्त खंडन किया है। आज की तारीख में इस 'थ्योरी' के दावेदार अनर्गल-अप्रासंगिक हो गई हैं। किंतु विवेकानंद ने सवा सौ साल पहले इसका मिथ्यात्व उघाड़ कर रख दिया था। वे कहते हैं, "हमारे शास्त्रों में एक भी शब्द नहीं है जो प्रमाण दे सके कि आर्य भारत के बाहर किसी देश से आए। हाँ, प्राचीन भारत में अफगानिस्तान भी शामिल था, बस इतना ही।" आगे महाभारत का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि "सत्-युग के आरंभ में एक ही जाति ब्राह्मण थी और फिर पेशे के भेद वह भिन्न-भिन्न जातियों में बँटती गई। बस यही एकमात्र व्याख्या, सच्ची और युक्तियुक्त है। भविष्य में जो सतयग आ रहा है. उसमें ब्राह्मणेतर सभी जातियाँ फिर ब्राह्मण रूप में परिणत होंगी।"

यह ब्राह्मणत्व विवेकानंद की दृष्टि में 'मनुष्य का चरम आदर्श' है। वे बड़े स्पष्टवादी स्वर में उनके दोषों की आलोचना भी करते हैं, परंतु उनका प्राप्य श्रेय भी उन्हें देने से नहीं हिचकते। वे दरअसल ब्राह्मणों के एकाधिकार के दावे के विरुद्ध हैं और अंग्रेजों का ही नहीं, मुसलमानों का भी इस मानी में उपकार मानते हैं कि उन्होंने इस एकाधिकार को तोड़ा। यहा तक कहते हैं कि "मुसलमानों की भारत-विजय मानो पददलितों और वंचितों का उद्धार करने के लिए हुई थी।" यह भी, कि "अगर तुम सचेत न होगे तो तम्हारे मद्रास के भी पंचमांश क्या. अर्द्धांश लोग ईसाई हो जाएँगे।"

परंतु वे फिर से दोहराते हैं अपनी बात, कि "उच्च वर्णों को नीचे उतारकर इस समस्या की मीमांसा न होगी। नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाना होगा। ब्राह्मणों से मेरा निवेदन यही है कि वे जो कुछ जानते हैं, उसकी शिक्षा देकर और सदियों से जिस ज्ञान और संस्कृति का संचय उन्होंने किया है, उसका व्यापक प्रचार-प्रसार करके भारत की जनता को उन्नत करने के प्रयत्न में अपने को खपा दें।"

इसी तरह मूर्तिपूजा को लेकर भी स्वामीजी विवेकानंद ने देश और विदेश के सारे अहंकारी-विमूढ़ात्मक लोगों के दंभ और दुष्टप्रचार का कड़ा प्रतिकार किया था। वे हमें बताते हैं कि अपने कच्चे दिनों में भी औरों की देखा-देखी मूर्तिपूजा का विरोध करते थे। मानो उसके दंडस्वरूप ही उन्हें रामकृष्ण परमहंस के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी थी, जिन्होंने सबकुछ मूर्तिपूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था। वे कहते हैं, "यदि मूर्तिपूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण जैसे महापुरुष उत्पन्न हो सकते हैं, तब तुम क्या पसंद करोगे—सुधारकों का धर्म या मूर्तिपूजा? आखिर, मूर्तिपूजा निंदनीय क्यों हो गई? कोई नहीं जानता" "शायद इसलिए," स्वामीजी कहते हैं *"हजारों बरस पहले किसी यहूदी ने इसकी निंदा की थी। अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोड़कर और सबकी मूर्तियों की निंदा" की थी। क्या निष्कर्ष निकलता है इससे? यही न कि "परस्पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण से देखना और विचार करना कितना कठिन है! और यही मनुष्य-समाज की उन्नति की राह में सबसे बडा रोडा है। यही है ईर्ष्या. घणा और लडाई की जड़।'*

कहना न होगा कि स्वामी विवेकानंद की यह आलोचना कई जगह आत्मालोचन के रूप में भी उनके व्याख्यानों में प्रकट हुई है और उसी आत्मालोचना के सुर पर इस लेख का भी समापन करना उचित होगा। श्रीलंका में वेदांत पर दिए गए भाषण का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

"यदि इस समय भारत में कोई महापाप है तो वह यही ईर्ष्या की दास्ता है। हर व्यक्ति हुकूमत चाहता है, पर आज्ञापालन के लिए कोई भी तैयार नहीं है। ईर्ष्या-द्वेष छोड़ो, तभी तुम उस महान कार्यों को कर सकोगे, जो अभी तक बाकी पड़े हैं। हमारे पूर्वजों ने अद्‌भुत कर्म किए हैं, जिन पर हमें गर्व है। परंतु अब समय खुद हमारे कर्म करने का है, जिसे देखकर हमारी भावी संतान भी इस पर गर्व कर सके।"

इत्यलम।

इतिहास की वर्तमानता

भगवान सिंह*

He who controls the past controls the future. He who controls the present controls the past." *George Orwell*, 1984

हम इस लेख में इतिहास विषयक कतिपय अवधारणाओं को समझने का प्रयत्न करेंगे जिनकी भ्रामक समझ से हमारा इतिहासबोध भी प्रभावित होता है और वर्तमान में भी हम दिग्भ्रम के शिकार हो जाते हैं।

परिभाषा का संकट

इतिहास का अर्थ है जो कभी था, 'इति-ह-आस'। इसमें 'ह' के रूप में एक निश्चयात्मकता भी जुड़ी है। ऐसा था नहीं, ऐसा ही था। इसमें यह भी ध्वनित है कि अब वह नहीं है। अंग्रेजी के 'पास्ट' या हिन्दी के भूत, अतीत, व्यतीत या गुजरा हुआ, जैसा। परन्तु हमारा वर्तमान अंग्रेजी का 'प्रेजेंट' नहीं है जिसे आपके सामने उपस्थित कर दिया गया हो। यह घूम रहा है, हो कर भी अग्राह्य है, जब तक पकड़ने चलें तब तक बीत चुका होता है। हमारा भविष्य भी 'फ्यूचर' या आगे जो होगा नहीं है, वह भाव्य है, जिसके होने की संभावना है। यह हमारे कल्पित रूप से भिन्न भी हो सकता है, परन्तु आकाश पतित नहीं, हमारे ज्ञान, कर्म और योजना के साथ हमारे नियन्त्रण से बाहर की परिस्थितियों के दबाव में, अनुमान। यदि हम पश्चिमी अवधारणाओं से अपने भूत, वर्तमान और भविष्य को नहीं समझ सकते, जब कि इनके मामले में हमारी अपनी अवधारणाएँ अधिक सटीक हैं, तो हम पश्चिम के इतिहास या हिस्टी की अवधारणा से अपने अतीत को कैसे समझ सकते हैं?

प्राचीन काल में इतिहास सृष्टि के आरम्भ और विकास के लिए प्रचलित था, पराण आजकल प्रचलित इतिहास के लिए और गाथा व्यक्तिपरक या विषय परक

* भगवान सिंह. ए-6 सिटी अपार्टमेन्ट. वसन्धरा एनकलेव. दिल्ली-110096: मो. 09868083965

वृतान्तों के लिए। वेद में मुख्यतः विश्वप्रपंच की कथा है और उस में मानव चरित्रों के अपने कारनामें भी हैं इसलिए यह सुझाव दिया जाता रहा है कि वेद की व्याख्या इतिहास और पुराण के ज्ञान से ही सम्भव है– *'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं सं उप बृंहयेत्'*। ऋग्वेद में दो परिपाटियों (श्रुतियों) या परम्पराओं के श्रुतिलब्ध ज्ञान की बात की गई है। एक सृष्टि या आलोकित पिण्डों, देवों से संबन्धित और दूसरी प्राणि जगत से संबन्धित, जिसके भीतर ही मानव पितरों के कारनामे भी आते हैं। इन्हीं के भीतर समस्त विश्व-व्यापार समाहित और संचरित है– *द्वे श्रुती अशृणवम् पितृणां अहं, देवाना उत मर्त्यानाम। ताभ्यां इदं विश्वमेजति समेति, तदन्तरा पितरा मातरा च।* इनमें पहला इतिहास है, जो देवशास्त्र या माइथालोजी में आता है और दसरा आधनिक अर्थ में इतिहास या हमारी परिचित भाषा में पुराण।

आगे चल कर धर्म, काम, मोक्ष के उपदेश से युक्त कथावृत्तों को भी इतिहास माना जाने लगा– *धर्मार्थकाममोक्षाणां उपदेश समन्वितम्। पूर्ववृत्तं कथायुक्तं इतिहास प्रचक्षते।* देवकथा के साथ ऐसा तो होना ही था। जाहिर है इतिहास की हमारी पुरानी अवधारणा हिस्ट्री से भिन्न रही है। हिस्ट्री के निकट पुराण रहा हैं जिसे पाश्चात्य अध्येताओं ने परंपरा या ट्रैडिशन की संज्ञा दी क्योंकि उनकी भाषा में पुराण के समग्र भाव को अभिहित करने वाला कोई शब्द न था, ठीक उसी तरह जैसे हमारी भाषा में पश्चिम की हिस्ट्री के लिए कोई उपयुक्त शब्द न था। अनुवाद के समय सटीक शब्दों के अभाव का यह संकट दो समाजों और संस्कृतियों की अपनी स्वविशिष्टता से जुड़ा प्रश्न है। यह ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, संवेदन और अनुभव क्षेत्र की भिन्नता और स्वविशिष्टता से भी जुड़ा प्रश्न है। इसलिए यदि दो सभ्यताओं की अपनी संस्थाएँ और कार्यशैली अलग होती है तो इनमें किसी एक को उचित या सही और दूसरी को अनुचित ठहराने की चेष्टा यान्त्रिक समझ से प्रेरित होती है। जिन समाजों का सांस्कृतिक इतिहास लेखन के चलन से दसियों हजार साल पहले आरम्भ हो गया था उनमें अपने अतीत की स्मृति को सँजोने की विधि ठीक वहीं नहीं हो सकती जो उन समाजों में देखने में आती है जिनका सांस्कृतिक मूलाधार लिपि के चलन के बाद आरंभ हुआ और जिनके पास उससे पहले की नगण्य पूँजी ही बची रह गई है। मूल प्रश्न स्मरणीय घटनाओं और चरित्रों को विस्मृति में चले जाने से बचाने की युक्ति के विकास की है। हेरोडोटस ने जिन्हें हिस्टी का जनक कहा जाता है इसकी व्याख्या इसी रूप में की थी।[1]

असावधानी, चूक, उलझन आदि विविध कारणों से शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। अतः आज अंग्रेजी के हिस्ट्री के आशय में इतिहास शब्द के प्रयोग पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। आपत्ति इस बात पर हो सकती है कि आज तक काल की, और इसलिए इतिहास की, प्रकृति दिक् के मानकों और सादृष्यों के सहारे समझी जाती रही है. इसलिए हमारे पराने विचारक रहे हों या आज के इतिहासदार्शनिक. इसकी

प्रकृति को और हमारे लिए इसकी भूमिका को समझने में असमर्थ रहे हैं। ऊर्जा के एक प्रभेद, जैसे श्रवणशक्ति, से दूसरे, जैसे घ्राणशक्ति, की व्याख्या नहीं हो सकती, उसकी विविध भौतिक अभिव्यक्तियों की तो बात ही दूर है। हमारी भाषा तो दिक् और ऊर्जा की व्याख्या करने में काफी दूर तक समर्थ है क्योंकि ये इन्द्रियगम्य हैं। इसके बाद भीं हम विश्वप्रपंच को अधूरे रूप में ही समझ पाते हैं और इसके उन पहलुओं का आभास तक पाने में समर्थ नहीं हो पाते जो किसी अतिरिक्त इन्द्रिय या अतीन्द्रिय बोध से ग्रहण हो सकता है या ऐसे जीवों को ग्रहण होता है जिनमें कोई अतिरिक्त इन्द्रियबोध है। बया, तितली, मकड़ी, शहद की मक्खी, चमगादड़, चींटी आदि की निसर्गजात क्षमताओं के विषय में हम उसी मूढ़ भाव से अटकलें लगाते हैं जैसे एक अन्धा दृश्य जगत के विषय में, फिर भी हम अपनी सकल अग्रता के बल पर यह मान बैठे हैं कि हम सब कुछ जान चुके हैं या जान सकते हैं।

काल के चरित्र को न समझ पाने के कारण दिक् के मानकों को भी हम ऊल-जलूल रूप में ही काल पर लागू करते हैं। हमारे सादृश्यों या उपमाओं से समझ नहीं पैदा होती, भ्रान्ति पैदा होती है, चाहे वह काल को प्रवाह के रूप में देखना हो, या तीर के रूप में या चक्र के रूप में। इतिहास इसी तीसरे अपरिभाषित और भाषातीत आयाम से जुड़ा है, इसलिए यह पूरी तरह हमारी पकड़ में नहीं आता। इतिहासबोध को अतीत की लादी मान कर या उसकी चेतना को गड़े मुर्दे उखाड़ने का पर्याय बताना, उससे मुक्ति पाने या नदी पार करने के बाद नौका को सिर पर लाद कर चलने जैसे सादृश्य इसी नासमझी की उपज हैं। जब हम इतिहास को समाजशास्त्र की प्रयोगशाला कहते हैं तब भी हम न तो इतिहास की भूमिका को रेखांकित कर पाते हैं, न ही इतिहास से सही सीख ग्रहण कर पाते हैं। यदि इतिहास आवर्ती होता, सामाजिक परिस्थितियाँ नियन्त्रित होतीं तो पिछले जातीय अनुभवों का कोई लाभ होता। आल्डस हक्सले का विरोधाभासी कथन 'इतिहास से जो सबसे महत्वपूर्ण सीख मिलती है वह यह है कि लोग इतिहास से बहुत अधिक सीख नहीं लेते'[2] इसी विडंबना को प्रकट करता है। इसका ही दूसरा पक्ष मार्क्स का वह कथन है कि इतिहास पहली बार अपने को त्रासदी के रूप में दुहराता है और दूसरी बार भड़ैती बन कर। मार्क्स के इस कथन को मार्क्सवादी सबसे अधिक दुहराते रहे और वे दूर देश के विचार और इतिहास को अपने देश और समाज में दुहराने की सदिच्छा से कातर क्रान्ति को लफ्फाजी और भड़ैती के रूप में ही पेश करते रहे और कई त्रासदियों से गुजरने के बाद भी क्रान्ति की अपनी सैद्धान्तिकी तक विकसित न कर सके। सच तो यह है कि इतिहास को दुहराया जा ही नहीं सकता। काल केवल बीतता नहीं है, सब कुछ को बदलता चलता है अतः दुहराने की कोशिशों से अनर्थ होगा या व्यर्थ का परिहास होगा। इतिहास हमें पीछे लौटने की छूट नहीं देता, आगे बढ़ने का दबाव अवश्य पैदा करता है।

काल की अनन्त गतियाँ हैं, अनन्त दिशाएँ और अनन्त रूप जिन्हें हम अपनी भाषा की दिक-ऊर्जा-सीमिता के कारण परी तरह समझ नहीं पाते। इतिहास या अतीत

की स्मृति और अस्मिता के बोध के अनन्त रूप हैं, और उसी रूप में इतिहास हमारी चेतना से अभिन्न रूप में, और अनन्त रूपों में जीवित रहता है। अतः इसका चरित्र जटिल भी है बहुविध भी, अस्थिर भी, और अग्राह्य भी।

दिक् में हम एक स्थान से आगे बढ़ते हैं तो वह हमसे छूट जाता है, हम उसको साथ ले कर नहीं चल सकते। हम उस स्थान पर वापस लौट सकते हैं, वहाँ दुबारा-तिबारा रह सकते हैं, उसकी कमियों को दूर कर सकते हैं या अपने राग और सामर्थ्य के अनुसार बदल सकते है। इतिहास को स्थान की तरह छोड़ कर आगे नहीं बढ़ सकते। वह हमारे साथ चलता है। वह हमारे भीतर होता है। अप्रिय घटनाओं को हम भूलना चाहते हैं, भूल नहीं पाते या उतनी जल्दी भूल नहीं पाते जितनी जल्दी भूलना चाहते है। इतिहास के विशिष्ट चरित्र को इसी से समझा जा सकता है कि परिघटना के रूप में बीत कर भी यह स्मृति के रूप में हमारे साथ ही नहीं होता, समाज में प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अलग रूपों में होता है और हम सभी के संकल्पों और निर्णयों को, हमारे वर्तमान और भविष्य को प्रभावित भी करता है। इसलिए एक ही परिघटना असंख्य लोगों की चेतना में असंख्य रूपों में वर्तमान रहती है और इसका अनपेक्षित स्वतः छीजता जाता है, जीवन्त हमारी पूँजी बना रहता है क्योंकि हमारे पास ज्ञान, उपादान और युक्ति के रूप में जो कुछ भी है वह अतीत से ही आया है। अतीत के विस्मरण की अवस्था में मनुष्य लुगदी बन कर रह जाता है।

इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन अन्यथा भी एक चुनौती भरा काम है, क्योंकि अपने स्वार्थ के लिए इतिहास को विकृत करने वाली शक्तियाँ इतनी प्रबल रही हैं और आज भी हैं कि वे बड़े से बड़े इतिहासकार को अपने लश्कर में भरती कर लेती हैं। वे उसी में थोड़ी बहुत लय बदल कर कुलाँचें भरते रहते हैं, परन्तु बाड़ को तोड़ कर निकलने का साहस नहीं जुटा पाते। विषमता और अन्याय पर टिकी व्यवस्थाएँ जिस तरह समकालीन यथार्थ के साक्षात्कार और व्याख्या से डरती हैं उसी तरह वे इतिहास की सही समझ और व्याख्या से भी डरती हैं। सत्ता अपने हित में वर्तमान और इतिहास दोनों को विकृत करके अपने भविष्य को स्थायित्व देने के लिए प्रयत्नशील होती है। ऑरवेल के शब्दों में कहें तो किसी समाज को बर्वाद करने का सबसे कारगर तरीका है उनके इतिहास को नकारना या उसे नष्ट कर देना। [3]

सामी धर्म और सामी मूल की विचारधाएँ यही करती रही हैं। इससे सबसे अधिक अहित उन्होंने स्वयं अपना ही किया। उनके बुद्धिजीवियों ने इतिहास को ही नष्ट नहीं किया, उनको अपनी भेड़ बना कर स्वयं गड़रिया बनने के लिए कृतसंकल्प धर्मदेष्टाओं और उनके उत्तराधिकारी पादरियों और मुल्लाओं ने किया। बुद्धिजीवियों की चूक यह थी कि उन्होंने उनके सामने समर्पण कर दिया और पूरी दुनिया को उनके इरादों के अनुसार बनाने में उनसे सहयोग करते चले गए। पश्चिम का महान से महान चिन्तक इसका अपवाद नहीं है।

कहें, सभ्यता के आरम्भ से आज तक हम अपनी कुछ जरूरतों को पूरा करने के लिए इतिहासों का आविष्कार करते आए हैं। हमारे पुराण भी ऐसे ही रहे हैं और आज का इतिहास भी ऐसा ही है। डार्विन के उद्विकास सिद्धान्त से पहले जितने भी इतिहास लिखे गए उन्हें तो वैज्ञानिक इतिहास इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उनका आरम्भ ही मिथक से होता है। इसका अपवाद गिबन का प्रसिद्ध ग्रन्थ, *डिक्लाइन ऐंड फाल ऑफ दि रोमन इंपायर* भी नहीं है। यही भूल विलियम जोन्स और मैक्समूलर तक करते रहे। अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* में अपने समकालीन यूरोप की समकक्षता में न आ पाने वाले पुराने समाजों को रूड या असभ्य सिद्ध करने के आवेश में मिल ने इतिहास की अपनी परिभाषा को भी अपनी मूढ़ता का प्रमाण बना दिया। परन्तु हम उसे कैसे दोष दे सकते हैं जब हमारे इतिहासकार स्वयं भी उसी के जमले को दुहराते हुए कोरस गाते रहे कि हमारे पास इतिहास नहीं था।

हजार दो हजार साल पहले का कोई इतिवृत्त या शास्त्र उन्नीसवीं शताब्दी के समकक्ष नहीं हो सकता था और समकक्षता में न आ पाने के कारण गर्हित नहीं ठहराया जा सकता था। जिसमें इतनी मोटी समझ न हो वह इतिहास पर फतवे कैसे दे सकता है और उन फतवों को सत्य बनाने के लिए लिखे गए दुनिया भर के इतिहास वैज्ञानिक इतिहास की कसौटी पर खरे कैसे उतर सकते हैं? यदि जैसा कि मिल ने कहा था सभ्यता की कसौटी उसमें सही इतिहासबोध का होना है, तो हम इतिहास की विकृत स्थापनाओं पर टिके समाज को असाधारण तकनीकी प्रगति के बाद भी सभ्य कैसे कह सकते हैं?

हम इसे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करें। हीगेल तक यह सर्वमान्य था कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की दिशा में हुआ है। उनके ही शब्दों में विश्व इतिहास पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है। एशिया इतिहास का आदि है और पश्चिम सर्वतोभावेन विश्व इतिहास का अन्त है।[4] अपने दावे को उचित ठहराने के लिए हीगेल ने इतिहास की 'आत्मा' (spirit) की तलाश कर ली थी।[5] इसी स्पिरिट का पाठान्तर था, 'आइडिया' या विचार से भूत जगत पैदा होता है, न कि भूत जगत से विचार। इसी स्पिरिट या प्रत्यय को मार्क्स ने मैटर या द्रव्य का उत्पाद बताते हुए हीगेल को सिर के बल खड़ा तो कर दिया परन्तु उसी के दायरे में अपने विचारों को समायोजित करते रहे। विचार या चेतना से तो वह इन्कार कर नहीं सकते थे, परन्तु मनोविज्ञान को सिरे से नकार दिया। चेतना जिस भी कारण से पैदा हो, एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद तो अपना संसार रचने ही लगती है, उसके चरित्र को यान्त्रिक बना देने के बाद विचारधारा का यान्त्रिक और आत्मनिषेधकारी होना स्वाभाविक ही था।

भाषा, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता का मूलाधार सभी के सन्दर्भ में जब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पूर्व या एशिया की बात की जाती है तो उसका अर्थ भारत होता है। हीगेल और मिल में समानता यह है कि दोनों इस बात से विक्षिप्तता की सीमा तक

व्यग्र थे कि भारतीय और चीनी सभ्यताएँ पहले पाश्चात्य सभ्यता से उत्कृष्ट रही हैं, और आज भी उनके कुछ मूल्य पाश्चात्य मूल्यों से श्रेयस्कर हैं। इसके बाद भी हीगेल की उद्विग्नता का मुहावरा अलग है और मिल का उससे भिन्न क्योंकि मिल, जिनकी आकांक्षा पहले पादरी बनने की थी, बाद में नास्तिक और भौतिकवादी बन चुके थे। हीगेल के लिए पूर्व से इतिहासबोध ले कर उससे 'स्पिरिट' निकालने के बाद 'स्पिरिचुअस' इतिहासबोध इतिहास की परम उपलब्धि थी और जिसके पास यह जिसके पास आ गई उसके सामने दसरों का स्पिरिट भी अपने होने का अधिकार खो देती है।[6]

इसका सबसे रोचक पक्ष यह है कि जर्मनी में इसकी अभिव्यक्ति सबसे प्रखर है। उसके सामने पूरा यूरोप फीका। जो लोग नात्सी मानसिकता को हीगेल से नहीं जोड़ सकते वे न तो नात्सी क्रूरताओं और मूर्खताओं को समझ सकते हैं न ही हीगेल के दर्शन के सारतत्व को।[7] इसकी पराकाष्ठा है हीगेल का रुग्ण नस्लवाद और रंगभेद।[8] हीगेल, ईसाइयत और मिल और मार्क्स की नास्तिकता के भारतीय सन्दर्भ में एक ही सार तत्व है कि अंग्रेज भारत में जो कुछ कर रहे थे वह अनुचित तो था पर भारत के हित में था। हीगेल को इसका पुरोधा माना जा सकता है।[9] सत्ता और सफलता व्यक्तियों और समाजों को उन्मत्त बना देती है। उन्मत्त व्यक्ति बड़ी बड़ी बातें कर सकता है, परन्तु क्या वह सही बातें भी कर सकता है? हम बड़ी बातें करने वालों को सही बातें करने वाला मान कर, अपने सोचने का दरवाजा ही बन्द कर लेते हैं और उनकी अनुमति, स्वीकृति या अनुमोदन से वंचित विचार या स्थापना को ही अस्वीकार्य न मान लें, अपितु उनकी भाषा से इतर भाषाओं में लिखे विचारों को भी अप्रामाणिक मानने के लिए तत्पर रहें। दासता की इससे अधम स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती, पर विडंबना यह कि हमारे प्रबुद्ध कहे जाने वाले लोग इस अधोगति पर गर्व करते हैं और हम स्वयं उनसे आतंकित रहते हैं।

ऐसा नहीं था कि वे कृतघ्नता पर उतर कर यह दावा करें कि पश्चिम निसर्गजात रूप में पूर्व से सदा से श्रेष्ठ रहा है और विश्व के समस्त सिद्धान्त यूरोप में पैदा हुए हैं और पूर्व की दिशा में प्रवाहित हुए हैं, इसलिए जो देश यूरोप के जितना ही निकट है वह अपने से पूर्ववर्ती देश और समाज से उतना ही अधिक सभ्य है। मार्क्स केवल हीगेल के ही शिष्य नहीं थे, वह मिल के भी शिष्य थे[10] यद्यपि व्यक्तिगत सम्पर्क दोनों में से किसी से न हुआ था।

इसे हीगेल और मार्क्स ने क्यों मान लिया इसे तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम यह न देखें कि ये दोनों यूरोकेन्द्री, पुरुषसत्ताक और सामी सोच के दार्शनिक है और आधुनिकता की समझ का इनमें अभाव है। मार्क्स का नारा था *'वर्कर्स ऑफ आल कंट्रीज यूनाइट'*। हमारे यहाँ इसे तोड़-बदल कर *'दुनिया के मजदूरो एक हो'* के रूप में पेश किया जाता रहा। *आल कंट्रीज* का मतलब है यरोप के *सभी*

औद्योगिक देश जिनमें कारखाने बन चुके हैं, मजदूरों की बड़ी संख्या है, उन्हें नारेबाजी से जोड़ना और औद्योगिक विकास को उलट कर, उद्योगविद्या का उपयोग यूरोप के लोगों के हित में करने तक सीमित था। इसमें यूरोप और अमेरिका पूरी दुनिया थी जिसमें आर्थिक समानता या लगभग समानता के लिए जरूरी होने पर हिंसा और रक्तपात तक उचित है। यूरोप से बाहर की दुनिया उनकी क्रान्ति की योजना में शामिल न थी। वहाँ के उद्योगों को नष्ट और उनके विकास के सभी रास्ते बन्द करने के साथ यूरोपीय पूँजीवाद का उदय हुआ था। समस्त दुनिया यूरोप के लिए बाजार और कच्चे माल का स्रोत था। अतः वहाँ के समाजों के लिए न तो मार्क्स के पास कोई योजना थी, न ही कोई सहानुभूति, न सम्मान का भाव और न ही समझने की शक्ति। भारत के विषय में मार्क्स उसी महावरे में बात करते हैं जिसमें मिल जो सिरफिरे 'दार्शनिक' कहे जा सकते हैं।

इसे रेखांकित करना जरूरी है कि मार्क्स यूरोपीय समाज के दबे और उत्पीड़ित वर्ग के प्रबल समर्थक और उसके भाग्योदय के लिए चिन्तित थे। परन्तु एक दार्शनिक के रूप में सबसे कमजोर दार्शनिक। उनके ऐतिहासिक भौतिकवाद में ऐतिहासिकता पुरानी और अशक्त अर्थव्यवस्थाओं को प्रतिस्थापित करने वाली नई व्यवस्था के उदय तक तो ठीक है। परन्तु उससे आगे औंधा। अपनी उतावली के कारण वे इस बात तक का ध्यान नहीं रख सके कि एक ओजस्वी व्यवस्था को अपने ही अन्तर्विरोधों से अशक्त होने से पहले उस पर किए जाने वाले आक्रमण भी प्रतिक्रियावादी होंगे और अन्ततःआत्मघाती सिद्ध होंगे।

इतिहास का उपयोग और इतिहास की समझ में दूरी अधिक नहीं है, यदि है तो विवेक की। कसाई बकरा हो या बकरी किसी को काट बेंचेगा, क्योंकि उसे उनके मांस से मतलब हैं। इससे कितनी हानि होती है, इसकी उसे चिन्ता नहीं। परन्तु बकरी को बचाने वाला और बकरों को ही बेचने वाला बकरीपालक, जानता है कि किसे बचा कर रखे बिना हम मिट जाएँगे और किसे बचाने की जिद में हम एक ऐसा बोझ पैदा कर लेंगे कि उस बोझ से ही हम मिट जाएँगे। इतिहास के उपयोग और इतिहास की समझ में यही अन्तर है।

वर्तमान की अतीतता और अतीत की वर्तमानता—इतिहास वर्तमान से अलग नहीं है। जिस वर्तमान से हम परिचित हैं वह एक वैयाकरणिक अवधारणा है। जिसे हम स्थूल रूप में वर्तमान कहते हैं वह कई बार लाखों करोड़ों और अरबों वर्षों का अतीत होता है। उदाहरण के लिए एक ज्योतिर्विद अपने अधुनातन दूरदर्शी से एक पिंड को आज देखता है और बताता है, यह एक अरब प्रकाशवर्ष की दूरी पर है। जब कि आज वह वहाँ है ही नहीं, इस बीच नष्ट हो चुका हो तो भी अचरज की बात नहीं। वर्तमान सचनाओं के हमारे पास पहँचने से निर्मित होता है. मात्र घटित होने से नहीं।

इतिहास का अध्ययन और इतिहास का बोध—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी लोगों को इतिहास का गहन अध्ययन करना चाहिए। यह बात ज्ञान की किसी भी शाखा के विषय में नहीं कही जा सकती। इतिहास की व्याख्या की जिम्मेदारी जिन्होंने ली है उन्होंने अपना काम कितनी तैयारी, कितनी निस्पृहता, कितनी तटस्थता से किया है और उनके द्वारा जो इतिहास तैयार किया गया है वह कितना भरोसे का है, इसकी मोटी समझ रखना और उनकी व्याख्याओं की सामान्य जानकारी ही समाज के दसरे लागों के लिए जरूरी है।

हमारे इतिहासकार—पिछले चालीस साल से भारतीय शिक्षण और शोध संस्थानों पर ऐसे ही लोगो का अधिकार रहा है जो संस्कृत नहीं जानते, वैदिक नहीं जानते, स्वयं इसे स्वीकारते भी हैं, परन्तु प्राचीन समाज के बारे में ऐसे मौलिक दावे करते रहे हैं जिसका साहस अंग्रेज शासकों और ईसाई मिशनरियों को भी नहीं हुआ, जिनको सबसे लम्बी लड़ाई वेद और पुराण से ही लड़नी पड़ी और जो लड़ाई आज भी जारी है। उनका बहाना रहा है, कि संस्कृत और वैदिक साहित्य में जो कछ जानने योग्य था, वह अब तक जाना जा चुका है।

उसी सब कुछ जाने हुए में से जब मैंने वे प्रमाण दिखाए जिनसे ऋग्वेद हड़प्पा सभ्यता का साहित्य बन गया तो पहले उसके प्रकाशन में बाधा डाली, फिर छायायुद्ध चलाया, और उस पर भी जब काम नहीं चला तो यह बहाने करने लगे कि हम इतिहासकार नहीं हैं, साहित्यकार हैं। साहित्यकार हैं या नहीं, प्रश्न है वे प्रमाण प्रमाण हैं या नहीं? जो भी हो, उन्हें इतना तो मानने को बाध्य होना ही पडा कि आर्यों का कोई आक्रमण भारत पर नहीं हुआ था।

अपने अतिरेकी दावों को इतिहास का सच बनाने के लिए उन्होंने शिक्षा की पुस्तकों के प्रकाशन अधिकार का केन्द्रीकरण करके अपनी मुट्ठी में कर लिया और सबसे कमाऊ प्रकाशन संस्थान के मालिक वे स्वयं बन बैठे। अध्ययन और अनुसंधान और भर्ती के सभी संस्थानों पर एकाधिकार करके अपनी करनी को वैतरणी पार कराने वाली तरणी बनाते और नई पीढ़ी को इतिहास के पार उतारते रहे। इतिहास समाज की चेतना का निर्माण करता है और जिस तरह की चेतना का निर्माण उन्होंने किया उसका उदाहरण आज का अर्धविक्षिप्त सा बना समाज है जिसमें सभी मर्यादाएँ और सीमाएँ टूटने लगी हैं।

सभ्यता और इतिहास लेखन—जिन समाजों के पास इतिहास नहीं रहा है वे असभ्य रहे हैं, यह पदव्याघाती कथन है क्योंकि जिन समाजों ने सभ्यता को जन्म दिया और उसका प्राथमिक विकास किया उनके पास इतिहास नहीं था, इतिहास की घटनाओं को दर्ज करने का साधन, अक्षरज्ञान तक न था। उनके पास अपना पुराण था। हेरोडोटस की व्याख्या को मानें तो इतिहास विस्मरणीय घटनाओं की याद बचाने का साधन है और इस माने में यह वैसा ही काम है जैसा निजी जीवन में डायरी

लेखन। डायरी लिखने के कतिपय लाभ हैं इसे नकारा नहीं जा सकता, फिर भी दुनिया के सबसे बुद्धिमान कहे जाने वाले लोगों में भी अधिकांश अपनी अतिशय कार्यव्यस्तता के कारण डायरी नहीं लिखते। डायरी लिखने वाले सामान्य जीवन में उनसे समझदार होते हैं यह दावा नहीं किया जा सकता।

फिर यदि इतिहास को किसी लाभ के लिए जानते हुए भी विकृत किया या चमकाया जा सकता है जैसा कि पश्चिम करता आया है तो वह उन पुराणों से तत्वतः भिन्न कैसे हो सकता है जो अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए देवता. सर्य. वाय. इन्द्र आदि से अपनी उत्पत्ति मान कर गर्व करते रहे हैं?

इतिहास समाज को नियन्त्रित करने का औजार मात्र है और यह काम विरूपित या अनुकूलित इतिहास की सत्यता में विश्वास करा कर किया जाता रहा है। ले दे कर हम बरनी की उसी व्याख्या पर पहुँचते हैं जिसमें उसने कहा था कि इतिहास सामान्य जनों की जरूरत नहीं है, यह शासकों के काम की चीज है।[11] इसका उपयोग जैसा कि अपने अनुभव से हम जानते हैं, किसी समाज का मनोबल तोड़ने, सभ्यता को नष्ट करने, अरक्षितों पर प्रहार करने के बहाने तलाशने, या अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए किया जा सकता है और किया जाता रहा है। विकृत इतिहास का उत्तर सही. तथ्यपरक इतिहास हो सकता है और ऐसा इतिहासलेखन एक साहसिक कार्य है।

सभ्यता का सीधा सम्बन्ध शास्त्र या सैद्धान्तिकी तथा प्रौद्योगिकी से है जिससे पुरातन ज्ञान को अर्जित करने, उसमें विकास करने और उसके लाभों से परी मानवता को देर-सवेर लाभान्वित करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

संदर्भ

1 THESE are the researches of Herodotus of Halicarnassus, which he publishes, in the hope of thereby preserving from decay the remembrance of what men have done, and of preventing the great and wonderful actions of the Greeks and the Barbarians from losing their due need of glory; and withal to put on record what were their grounds of feuds. The History, by Herodotus: Tr. Rawlinson.

2 "That men do not learn very much from the lessons of history is the most important of all the lessons that history has to teach." Aldous Huxley, Collected Essays.

3 "The most effective way to destroy people is to deny and obliterate their own understanding of their history." Orwell.

4 "universal history goes from East to West. Europe is absolutely the end of universal history. Asia is the beginning." Hegel, Samtliche Werke. J. Hoffmeister and F. Meiner, eds. (Hamburg, 1955½, appendix 2, p. 243

5 "Because history is the configuration of the Spirit in the form of event, the people which receives the Spirit as its natural principle…is the one that dominates in

that epoch of world history…Against the absolute right of that people who actually are the carriers of the world Spirit, the spirit of other peoples has no other right."

6 "Because history is the configuration of the Spirit in the form of event, the people which receives the Spirit as its natural principle…is the one that dominates in that epoch of world history…Against the absolute right of that people who actually are the carriers of the world Spirit, the spirit of other peoples has no other right."

7 The Germanic Spirit (germanische Geist) is the Spirit of the New World (neuen Welt), whose end is the realization of the absolute truth, as the infinite self-determination of liberty that has for its content its proper absolute form. The principle of the German Empire ought to accommodate the Christian religion. The destiny of the Germanic peoples is that of serving as the bearer of the Christian principle."

8 "It is characteristic of the blacks that their consciousness has not yet even arrived at the intuition of any objectivity, as for example, of God or the law, in which humanity relates to the world and intuits its essence. ...He [the black person] is a human being in the rough."

9 "The British, or rather the East India Company, are the masters of India because it is the fatal destiny of Asian empires to subject themselves to the Europeans."

7 From Hegel's Einleitung in die Geschichte der Philosophie (J. Hoffmeister, ed., Hamburg: F. Meiner, 1962), op. cit. Roger-Pol Droit, L'Oubli de L'Inde, Une Amnésie Philosophique, Presses Universitaires de France, 1989, p. 189.

10 Marx used an 1823 French translation of Mill's book (Elements of Political Economy, London, 1821).. The Mill part of the Paris Notebooks is quite lengthy – it starts on page 25 of the fourth notebook and continues into the fifth. Following a lengthy selection of Mill excerpts, Marx suddenly "veered off" and began developing a larger, tangential thought. After writing his thoughts out, Marx returned to more Mill transcription. Soon, a second digression followed. Upon its completion, Marx finished up his summarizing. (Marx used a translation of Mill"s book, by J. T. Parisot, Paris, 1823.).

11 "The mean, the ignoble, the rude, the uncouth, the lowly, the base, the obscure, the vile, the destitute, the wretched, the low-born, and the men of market-place, can have no connection with History; nor can its pursuit be their profession. The above mentioned classes can derive no profit at all from learning the science of History; and it can be of no use to them in any time… The science of history is the special preserve the nobles and the distinguished the great men and the sons of Great men." (Barani, Tarikh-I Firuz Shahi, ed. Saiyid Ahmad Khan, Calcutta, 1862, p. 11 cited by Shireen Moosvi 'Medieval Indo-Persian Historiogrphy", p. 61 in Different Types of History ed.

पर्णता के कछ बिम्ब

रिचर्ड लेनाय*

पूर्णता के बिम्ब से मेरा तात्पर्य ब्रह्माण्डीय पूर्णता के अनिर्वचनीय अनुभव का विशिष्ट और विविध भारतीय तरीकों के द्वारा व्यक्त करना या उनका आवाहन करना है। अभिव्यक्ति की उन ऊँचाइयों को प्राप्त करने का प्रयत्न, बिम्ब-निर्माता एवं दर्शक दोनों को दर्शन योग्य (दर्शनीय) कथनीयता की सीमा-रेखा के अत्यन्त करीब ले जाता है। समुचित स्पष्टीकरण की अनुपस्थिति की दशा में कुछ सर्वाधिक हृदय-विदारक दृष्टान्त वहाँ मिलते हैं, जहाँ वे न्यूनतम अपेक्षित होते हैं, जहाँ पहुँचना कठिन होता है या जहाँ उनको स्पष्टता के साथ देखना भी दुःसाध्य है। इन्हें नाटकीय या नयनाभिराम बिम्बमाला के द्वारा विरचित परिशून्यता या रिक्त स्थानों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। पूर्णता का विरोधाभास, चूँकि किसी के अनुभव करने की क्षमता से है, और परिभाषा के हिसाब से यह लगभग अस्पष्ट है। जो व्यक्ति अतिसंवेदनशीलता तथा कल्पना के साथ पूर्णता का अनुभव कर चुके हैं, वे इसे परित्याग करने की ओर अग्रसर होते हैं। इसे लेकर मेरा दृष्टिकोण कुछ धुँधला और अस्पष्ट जैसा है। आवश्यक नहीं कि आपका दृष्टिकोण भी मेरे जैसा हो। फिर भी मैं प्रागैतिहास से लेकर वर्तमान काल तक व्यक्ति-विशेष और जन, ब्रह्माण्ड और लघु -ब्रह्माण्ड तथा मनुष्यों की वैयक्तिक अलगाव की अनुभूति का जीवन की पूर्णता में विलय के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए भारतवर्ष में प्रयुक्त औपचारिक तथा बिम्ब रूपी भाषा में तादत्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करूंगा। इन मुख्य साधनों में समाविष्ट हैं— अध्यारोपण, पारदर्शिता, भौतिक पदार्थों का भावपूर्ण कार्यान्वयन, रिक्त स्थानों एवं शून्यता का उपयोग, आधारभूत संरचना एवं इसके विपरीत आकृतियाँ, कथानकपूर्ण/विवरणात्मक आलेख, गतिशीलता एवं स्थिरता की औपचारिक द्वन्द्वात्मकता, दिखावटी रूप से विस्तीर्ण अवनतिपर्ण दष्टि—ये सभी पर्णता के आध्यात्मिक एकाकार दष्टिकोण को दर्शाने में

* लेखक इंग्लैण्ड में रहते हैं। हिन्दू धर्म तथा कला के विशेषज्ञ हैं और फोटोग्रैफी में पारंगत हैं। 'पर्णता के कछ बिम्ब' वार्षिक पत्र 'एवम' में प्रकाशित अंग्रेजी लेख का अनवाद है।

प्रयुक्त हुए हैं। मैं, सही अर्थों में तत्वमीमांसा के जन्म से पूर्व, मध्यप्रदेश के भीमबेटका से शुरू करना चाहूँगा, जिसे मैं समुचित रूप में भारतीय प्रागैतिहासिक पार्श्विक चित्रकला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दृष्टान्त मानता हूँ। हम लम्बे घुमावदार स्थल-मार्ग तथा घने जंगलों के बीच पहाड़ियों से सफर करते हुए वहाँ पहुँचे थे। बृहत शैल-प्रलम्बी चित्रकला का एक भाग, जो कई मीटरों तक फैला हुआ है, जिसे कई जनजातियों के लोगों ने सुदूरवर्ती कालों में बनाया होगा। एक जनजाति द्वारा बनाये गये पूर्ववर्ती चित्रांकनों को बिना सम्पूर्णतः अधिलोपित किये, दूसरी जनजाति उन पर अपने चित्रांकन अध्यारोपित कर चुकी है। इसके अनेक घटकों का निष्पादन रेखीय तथा कथित 'एक्स-रे' शैली की पारदर्शिता की विस्मयकारी जटिलता के जालीदार या एक जाल के रूप में निर्माण करना है। प्राचीनतम स्तर सम्भवतः मध्यपाषाणयुगीन है न कि पुरापाषाणयुगीन, इन चित्रों का इसी तरह के भ्रान्तिपूर्ण तरीकों से अध्यर्थन किया जाता रहा है। इसके ऊपर लिखित चर्मपत्र की चाहे जो भी उम्र हो. यह इस सहस्राब्दि के सम्पूर्ण मानव जाति के अनुभवों का एक परिपूर्ण संग्रह है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भीम बैठका के चित्रांकन किस रूप में पूर्णता के चित्र हैं। स्विटजरलैण्ड के महान सौन्दर्यशास्त्री सिगफ्रीड गिडियन ने लिखा है- 'आदिमयुगीन कला, दृष्टिकोण की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को कभी प्राप्त नहीं कर सकी। वहाँ कोई ऊँचाई या गहराई नहीं है, न ही वहाँ अध्यारोपण के लगातार उपयोग का साक्ष्य देता कोई स्पष्ट विभेद या विभिन्नता है। सब कुछ एक शाश्वत प्रस्तुति के अन्तर्गत प्रदर्शित था—कल, आज और आने वाले कल के चिरस्थायी अन्तःस्राव में।'

वे कहते हैं—'प्रत्येक उत्तरोत्तर बिम्ब भव्य रूपकालंकार में परस्पर अपृथक्करणीय हैं, उनमें चित्रित सभी विषय अन्तर्सम्बन्धित हो जाते हैं, वे असमरूप में सौन्दर्यपरक सातत्य का आभास देते हैं। यह प्रागैतिहासिक कला कहीं न कहीं पूर्णता के आवश्यक लक्षणों को आच्छादित कर जाती है, हालाँकि यह चित्रकला सौन्दर्य का दावा नहीं करती फिर भी इसे हम महान ऐतिहासिक युग की कलाकृतियों में संलग्न करते हैं। रूपाकृतियाँ अगाध गहराई से आती हुई या फूट पड़ती हुई एक दूसरे से बहुरूपदर्शी अन्तः क्रिया करती हैं जो कि बिम्ब परिभाषा की ऐन्द्रजालिक अस्पष्टता है, उसे देर तक देख कर ही समझा जा सकता है। इस पाषाण पर, जनजातीय चित्रकारों की अनेक पीढ़ियों ने एक के बाद एक चित्र समूह को उभारा है, बगैर पहले के आवृत (आलेपित) चित्र चिन्हों को मिटाते हुए। सम्भवतः ये सभी लोग स्वयं से अनभिज्ञ हैं. परन्त ब्रह्माण्डीय शक्ति द्वारा एक दूसरे से निकटस्थ और जुड़े हुए हैं।

सन्निकटता से देखने पर आप यत्र-तत्र उन धूमिल हो गये कला के अवशेषों को भी देखेंगे, जो निश्चय ही विनष्ट हो गये हैं। क्या वे उन लोक संस्कृतियों के सदृश नहीं हैं एवं वे क्या सम्भवतः उनके प्रारूप की तरह दृश्यमान नहीं हैं जैसा अजन्ता के चित्रांकन में पाया जाता है। कहा जा सकता है कि ये चित्र अजन्ता की शाश्वत

अविरामता को समेटे हुए हैं। वस्तुतः मेरी दृष्टि में सारनाथ के वे वैभवशाली भवन हैं जो चिन्तामणि (सार्वभौम-मस्तिष्क) की अनन्त सर्पिलता लिये हुए विचारों को प्रकट करते हैं। भीमबेटका, अजन्ता एवम् सारनाथ की स्थापत्य-रीतियाँ एक विशिष्ट दीर्घायुता एवं बृहदाधारित व्यापकता का संग्रहालय है जिसे अपवाद स्वरूप ही ऐसा स्वीकार किया जायेगा। इस प्रकार भीमबेटका के ये चित्रांकन स्वयं की पर्णता का सार्वभौम स्मृतिचिन्ह होने की अपनी पात्रता को प्रमाणित करते हैं।

सार्वभौम ब्रह्माण्डीय ऊर्जा की शक्तियाँ जिनसे मानव स्वयं को एकाकार करता है, वे सृष्टिशास्त्र के अनेकों प्राचीन रूपकों में प्रतिष्ठित किये गये हैं। मेरा मानना है कि इस आदिम सम्पूर्ण ऊर्जा का सर्वाधिक सूक्तियुक्त, सघनतम एवं सूक्ष्मतम प्रतिनिधि वैदिक काल का आदिम टीला है जहाँ से ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण ऊर्जा उत्पन्न हुई है, साथ ही, यह मौर्यकालीन सिक्का मलतः पर्णता के ''हीरोग्लिफ'' को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

एक कथ्य एवं एक औपचारिक भाषा की घोषणा करते हुए ये चित्रालेख भारतीय पूर्णता के वर्णन के समीचीन है और हमारे लिए वर्तमान सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। यथा ब्रह्माण्डीय वृक्ष का जीवन जल पर प्लावित पृथ्वी की आदिमकालीन मिट्टी (लोष्ट) से बाहर की ओर पल्लवित होते हुए, अनन्त की ओर विस्तृत होता चला जाये। एक अन्य प्रारूप के रूप में, ब्रह्माण्डीय महासागर से शिव के लिंगोद्भव को लिया जा सकता है। यह कथन घोषणा करता है कि ''यही पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्णता (साकार) दृश्यमान होती है, पर्णता से जब पर्णता का विनाश होता है. तो पनः जो शेष बचती है, वह पूर्णता है।''

सौन्दर्य विषयक दृष्टि से, यह कला की विधि जितनी भारत में शाश्वत (अकथनीय), उल्लेखनीय और सम्मोहनकारी है, उतना विश्व में कहीं नहीं है। भारतीय कला की नम्यता की यह विशिष्टता है कि इसमें ऊर्जा को बहिर्मुखी माना गया है। इसका एक चित्रात्मक उदाहरण प्रायः प्रदर्शित यह ब्रह्माण्डीय वृक्ष है, यह तभी से चलन में है जब से बुद्ध के प्रबोधन को बोधिवृक्ष के माध्यम से दर्शाया जा रहा है।

मैं मथुरा से प्राप्त प्रथम सदी के उभारदार वृत्त-फलक पर आना चाहता हूँ जिस पर यह प्रसंग चित्रित किया गया है—एक वृक्षादित मन्दिर, बोधि मन्दिर जिससे वही ब्रह्माण्डीय वृक्ष बाहर की ओर आच्छादित हो रहा है। मुझे इसके आध्यात्मिक अर्थ की समझ है। इसका कारण सम्भवतः पूर्व में बुद्ध के द्वारा वैदिक ब्राह्मणों की सारी शक्तियों और वैदिक ब्रह्माण्डीय शास्त्र के श्रोत और ज्ञान को अस्वीकृत करना था। आगे चल कर, अन्य कहीं और असाधारणरूप से सोमनाथ के रायसल स्तम्भ में सम्पूर्ण ऊर्जा का स्रोत बनती हुई उत्स संश्लिस्ट मूर्ति में अनन्तता की अभिव्यक्ति हुई है। इसी प्रकार, हिन्दू मन्दिरों के शिखर एक महत्वपूर्ण कला विशिष्टता के रूप में अर्चना करने वालों पर अनन्तता के रूपक के रूप में यथेष्ठ प्रभाव पैदा करते हैं। सदश

रूप से विस्तृत, अन्य ढाँचों में एक के पश्चात एक क्रमागत रूप से बढ़ते हुए एवं साथ ही समरूप, मन्दिरों की श्रृंखला और लघु विमानों की सहायता से एक चक्रीयवृत्ताशील अनन्तता का प्रभाव उत्पन्न होता है। यह समरूप स्थापत्य अर्चना करने वालों को अनेक. इसमें प्रवेश एवं प्रदक्षिणा के दौरान, पूर्णता का ज्ञान कराती है।

अमरावती के बौद्ध स्तूप पर उत्कीर्ण चित्रांकन, अनगिनत आवृतिशील एवं स्वरूपी नमूनों को प्रदर्शित करते हैं एवं यहाँ कमल फलक के प्रारूप की सौ से भी अधिक आवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। ये आध्यात्मिक शक्लि एवम् अनन्त रचनात्मक सर्जन के प्रतीक हैं। यहाँ पर यह आनन्दातिरेक उन्माद की सीमा तक प्रदर्शित होता है। स्वयं इस स्तूप के अस्तित्व की केन्द्रीय एकाग्रता और आनुपातिका कभी न समाप्त होने वाली शाश्वत गतिशीलता में वाहित होता है। साथ ही कमलाकृति तेजस्वी चेतनानुभूति का द्योतक है । बादामी में अपूर्वानुमेय विशालता की वैचारिकता, यहाँ के आश्चर्यजनक स्थापत्य वैभव एवं पत्थरों के तथ्यान्वेषण के माध्यम से उपस्थित हुआ है। विष्णु गुहा मन्दिर (छठी सदी) के स्तम्भीय एवं गुहायुक्त गलियारों में, शिल्पकारों ने कभी न मापी जा सकने वाली (अथाह) ब्रह्माण्डीय जल का आभास दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुहा-द्वार के ऊपर अवस्थित विशाल शैल ब्रह्माण्डीय जल से भारित हो कर रवेदार पत्थरों के स्तम्भों की धारियों में रूपान्तरित हो गया है। विष्णु यहाँ शेष (ब्रह्माण्डीय जल या महासागर का विशाल सर्प) की कुण्डली पर बैठे हैं। शिल्पकारों ने यहाँ अवचेतन जीवन की आन्तरिकता का उपयोग कर इस प्रकार की आभास देने वाली संरचना की निर्मिति की है, जिसमें बादामी रंग के पत्थर उपयोग में लाये गये हैं। यहाँ जल के अन्दर सब कुछ विद्यमान होने की विशिष्टता इस स्थापत्य के नीचे के खण्ड में सर्वाधिक दर्शनीय है। विष्णु के वाराह अवतार को एक विशाल पशु के रूप में जल के अन्दर से सर्पराज को रौंदता हआ एवं पथ्वी माता को समेटता हआ दर्शाया गया है।

कुछ अन्य तरीकों से भी गुहा मन्दिर एवं शिला-स्तम्भ, पूर्णता के लिए प्रयोग में लाये गये हैं। इनमें से कुछ सर्वाधिक भव्य एलोरा के पास मिले हैं। मैंने तीन उदाहरणों का चुनाव किया है- प्रथम में शिल्पकार ने दर्शकों द्वारा स्थापत्य के चलायमान परीक्षण (घूमती रहने वाली दृष्टि) करने वाले नेत्र का उपयोग सम्पूर्ण मन्दिर के स्थापत्य में, सम्पूर्णतः अन्दर से बाहर एवं नीचे से ऊपर तक किया है। ऐसा प्रयोग, गुहा के अन्दर एवं बाहर दोनों स्थानों पर दर्शनीय है। मैं यहाँ पर निश्चय ही, शिव के पर्वत पर विराजमान होने को इंगित कर रहा हूँ। यह जीवन्त शैलों द्वारा उत्कीर्ण, त्रिविध आयामी रूप से दर्शनीय है। त्रिविध आयामी रूप कहने का तात्पर्य है—बाज पक्षी द्वारा ही या गरुड़ द्वारा देखने का तरीका। त्रिविधायामी सिद्धान्त का प्रयोग मूलतः यूरोपीय अतिअलंकरण की एक पद्धति रही है, परन्तु मैं मानता हूँ कि इस पद्धति का भारत एवं उसमें भी एलोरा में उपयोग अद्वितीय है। यह दर्शकों पर

एक सर्वत्र दिव्यता का प्रभाव छोड़ती है, साथ ही उनमें ऐसी सामर्थ्य पैदा करती है कि वे कृति के भीतर भी देखें। मैं आप का ध्यान प्रायः उपेक्षित किये जाने वाले इस तथ्य पर लाना चाहता हूँ कि पुरातात्विक निर्देशालय के आगमन से पूर्व एक समय इस दैवीय भवन के छत पर जाना सम्भव था एवं पूर्णता के देव शिव को. जो कि कैलाश के शिखर पर सिंहासनारूढ़ हैं आमने-सामने देखा जा सकता है।

पूर्णता को बिम्बित करती हुई दूसरी कला शैली, एलोरा के दशावतार गुहा के अनुपम अभिव्यक्तिपूर्ण सशक्त कला में देखी जा सकती है। हम इसके देहानुपात के विस्तार एवं विशिष्टतया इसके विशाल वर्गीय स्तम्भ से आकाश अन्तरिक्ष की रहस्यपूर्ण शून्य सदृश पूर्णता का अनुभव कर सकते हैं। यह प्रभाव इस तथ्य पर निर्भर है कि एक दृश्यमान संरचना की यह शक्ति होती है कि अपने समीप की रिक्तता में भाव ला सके। प्रकृति एवं असीम असीमित दृष्टि विस्तार में खुलते हैं। दैवीय ऊर्जा का चित्रांकन, शान्त एवं स्थावर ज्यामितीय स्तम्भीय आकृतियों एवं शिल्पगत देवताओं के प्रस्फुटित गतिशीलता के अद्भुत सन्तुलन में चित्रांकित है। यहाँ पर युग्म देवताओं के मध्य के रोमांचक संघर्ष प्रस्फुटित हैं पर साथ ही उन्हें विस्तृत वैभवहीन स्तम्भों द्वारा प्रतिभावित होता हुआ देखा जा सकता है। ऋतुओं के अनुसार, यहाँ पर सूर्य की रोशनी एवं छाया की अलग-अलग प्रकृति इस अतिकाय द्वन्द्वात्मक पर्णता को सक्रिय करती रहती है।

एलोरा में (आठवीं सदी) तीसरी कला शैली निश्चय ही अतिवादी शैली है, जहाँ उत्कीर्ण शैल को भावुकता को वनाग्नि में परिवर्तित कर दिया गया है। यह पूर्णता पूर्व स्थापित सीमाओं और परम्पराओं को श्वेत उष्ण अभिव्यक्ति के उत्साह में ध्वंस करती हई लगती है।

इसके ठीक विपरीत, मैं यहाँ पूर्णता की अपनी सर्वथा भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मैं पचास वर्षों से अधिक समय से अजन्ता की बौद्ध कला में उलझा पड़ा हूँ। चूँकि बौद्ध धर्म परमतत्व एवं स्वयं के अस्तित्व को नकारता है और विचार करता है कि कुछ भी पृथक नहीं रहता है, प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु से सम्बन्धित होती है, हिन्दू गुफा मूर्तिकला से अलग इन स्थानों की सीमाओं के भीतर वास्तुशिल्पीय और ज्यामितीय आधार को छोड़ कर बौद्ध व्यवस्थाओं के अनुरूप विवरणात्मक चित्रकला की संरचना की जा रही थी। बौद्ध दृश्यविधान के अनुसार, व्यक्ति जो बोध की तरफ, प्रत्येक क्षण गति के सातत्य के साथ व्यतीत करता हुआ, प्रकृति के प्रतीयमान प्रवाह में मनुष्य और दूसरे सजीवों के साथ वहन करता हुआ, अजन्ता की जातक प्रतिमावली को चित्रित करता है। समान रूप से लघुतम अक्षीय सम्मिति पर विवरणों का कोई केन्द्र या घेरा नहीं होता। आवश्यक तिरछे तरीके में यह अजन्ता की गूढ़ पाषाण संरचना में अल्प आलोचित मन्त्र द्वारा प्रायः दृश्यों को ढाँचागत या विरामचिन्हित किया जाता है। तथापि. इस प्रकार के विविध आकार की. रंगकारी और

विचारित जटिलता का प्रयोग करके उन्हें सजावटी अलंकरण मात्र नहीं रहने दिया जाता। तथापि, इस प्रकार के विविध आकरिकी, रंगकारी और विचरित जटिलता का प्रयोग उन्हें सजावटी अलंकरण मात्र या अन्यत्र स्थानपूर्ति करने वाले से विभेद करने के लिए होते हैं। इसकी प्राचीनतम तिथि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध से शुरू होकर ईसा युग के छठी शताब्दी के अन्तिम भित्तिचित्र तक निरन्तर रही है। ये चित्र संचयित सूत्र नहीं बल्कि प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न हैं। मुझे लगता है कि इस तरीके से वे वास्तविक सातत्य से अस्पष्ट रूप से बाहर की ओर जाते हैं। जातक कथा नायक को ढाँचाकरण और अवक्षेपण को निर्वाण की ब्रह्माण्ड की पूर्णता के लिए, द्रष्टा को प्रकृति के जन्मजातीय अनधिकृत एकाकीपन, तथापि सान्द्रिक प्राकृतिक सार को महसूस करने में मदद कर रहे बौद्ध चित्रकार को उन्हें सूक्ष्म संकेत की तरह अर्थ समझाना चाहिए। जब इन विलक्षण और सावधानी पूर्वक आकार दिये गये पाषाण अपने आकस्मिक विभंजनों और मानव निर्मित छिद्रण और छिद्रों, जिनसे पौधे अंकुरित होते हैं, स्वाभाविक रूप में शिलापट्ट से जिनका पहलूकरण राजमिस्त्रियों द्वारा आंशिक रूप से छेनी से काट कर किया गया है, जिसे गुहा मन्दिर के प्रवेश द्वार के आस पास कोई भी देख सकता है, उनके भोथरे अपूर्ण प्रकटीकरण और उनके वास्तविक सातत्य का अनुपदेशन स्वाभाविक व्याख्या का विरोध करते हैं और जो इन्द्रियों द्वारा महसस और विचार करने. दोनों से परे हैं. जो जन्म नहीं लेता और बिना माप के है।

एक गुफा के प्रवेश द्वार पर सर्वथा भिन्न किनारों पर शिलायन्त्र को एक असामान्य रूप से केन्द्रित और अक्षीय संयोजन की तरह प्रयुक्त किया गया है। यहाँ वसन्त की शाश्वत ताजगी और चिरस्थायी यौवन के दृश्यों का विन्यास हो रहा है। यह बौद्ध स्वर्गीय-लोक में प्रवेश की कामना भी हो सकती है। अनन्य रूप से इन आकारों को कुशलता से चित्रित किया गया है कि अगर प्रदीपन के स्रोतों-मशाल प्रकाश, मूलतः आज कल के समय का विद्युत प्रकाश हटा लिया जाये तो व्यक्ति भूततुल्य रह जायेगा, अब तक सम्पूर्ण चक्रित अनुमापी का उच्च परिदृश्य के उत्तर बिम्ब पर जगमगाते हस्तिदन्त की जीवों के चारों ओर बहते हुए, अलौकिक पवित्रता के साथ कुछ क्षणों के लिए मण्डराते रहने के बाद इन पाषाणरूपों के सामने एक रहस्यपर्ण बौद्ध आवाहन में ब्रह्माण्ड में परिवर्तनशीलता का सब कुछ फैल रहा है।

जातक अवतारों की प्रतिध्वनि अजन्ता में देखी जा सकती है जो कि हिन्दू पूर्णता के बिम्ब की सर्वाधिक उत्तम प्रतिमूर्ति है। गुजरात के समलाजी में छठी शताब्दी की महान महाविष्णु मूर्ति, पारिजात वृक्ष, इन्द्र के जीवन का सार्वभौमिक वृक्ष, को चित्रित करता है, जो क्रमशः विष्णु के रूप में भगवान की एकल धारणा में विलीन हो जाता है। एक गूँज सम्भवतः अजन्ता के जातक अवतरण को पूर्णता के आध्यात्मिक विशिष्ट हिन्द बिम्बों में से एक के रूप में देखा जा सकता है। वक्ष की 21 शाखाएँ.

जिसके शिखर पर शिव की आकृति खड़ी है, दैव्य पूर्णता को सूचित करता है। जब हम पारिजात वृक्ष का उपगमन करते हैं तो यह कृष्ण के दिव्य नगर द्वारका की जनसंख्या, उनके पूर्ववर्ती जन्मों का स्मरण कराती है। इस प्रकार यह यादवों के लिए उनके स्वत्व के यथार्थ से मिलन, उनके दैव्य प्रतिष्ठा का एक अनुस्मरण है।

पूर्णता का मेरा अगला बिम्ब ग्वालियर संग्रहालय का ग्यारहवीं सदी का एक वाराणसी शिलापट्ट है जिसे डॉ. पी.एन. जोशी द्वारा पवित्र नगर के एक आदर्श तीर्थयात्रा- मानचित्र के अनन्य चित्रण के रूप में चिन्हित किया गया है। इसमें इस पवित्र शहर को देवताओं से परिपूर्ण, एवं गंगा को उसके हिमालयी उद्गम से दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवहमान एवं साथ ही इसे जलीय जीव-जन्तुओं से परिपूर्ण दर्शाया गया है। नगर को दृष्टि के आश्चर्यजनक क्षण में चित्रित किया गया है जैसे यह पूर्णतः ईश्वर द्वारा बनाया गया हो। समकालीन उद्धरणों के अनुसार इसकी पूजा उतना ही पुण्यप्रद है जितना कि वाराणसी में भौतिक निवास, इससे सम्बन्धित एक विचार तीर्थयात्रा के कागजी मानचित्र में समाविष्ट है और अर्वाचीन है, जहाँ स्वयं वाराणसी नगर के अन्दर, विविध तीर्थों पर एक तुल्यमान भारत-दर्शन के अन्तर्गत भारत के सभी मुख्य तीर्थों को अन्तर्निहित किया गया है। इन स्थानों के पुण्यप्रद तीर्थों को सम्पर्ण भारत में उतना ही प्रभावोत्पादक माना जाता है जितना इनके मूलस्थानों पर।

यह दावा किया जा सकता है कि वाराणसी में एक महान त्योहार के लिए एकत्र तीर्थयात्री समूह को इन्हें एक सगुन के रूप में स्वीकार करने का अवसर प्रदान किया जाता है। बनारस, वाराणसी-शिलापट्ट का ''शिलापट्ट'' बन जाता है। 1905 ई. में प्रयाग के माघ मेले में एक अनजान छायाकार द्वारा लिया गया छायाचित्र, जिसमें पाँच विशालदर्शी प्रदर्शनियों में इस प्रकार के वास्तविक जीवन में शिलापट्ट पर भव्य उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह पूर्णता के एक इतने बडे बिम्ब में परिवर्तित हो गया है कि शायद ही कोई कल्पना कर सके।

आधुनिक चित्रकला के तीन उदाहरणों को उद्धृत करते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज भी पुरातन स्वरूपों को प्रतिध्वनित करती हुई पूर्णता, भारतीय कलाकारों का मुख्य विषय रही है जो हमारे समय में और भी स्पष्ट है। विनोद विहारी मुखर्जी द्वारा, शान्तिनिकेतन में हिन्दी कवियों की सभा में खींचा गया प्राचीनतम-काल का एक बृहदाकार बहुविध भित्ति-चित्र पूर्णतः एक निजी प्रयास है। भोपाल विधान सभा के प्रवेश द्वार पर गुलाम मो. शेख का करिश्मा एवं सभी गुणों से पूर्ण—''जीवन का वृक्ष'' भित्ति-चित्र औपचारिक संश्लेषण का आलिंगन करता है—इतना जितना पहले उद्धृत समलाजी के परिवर्तित पारिजात वृक्ष की प्रतिमा। इसी प्रकार यन्त्र-व्युत्पन्न राजा का ''जल-बिन्दु'' इसके गहरे रहस्यात्मक सागरीय निकाय के साथ शब्दों से परे एक व्यापकता का प्रदर्शन करता है।

परन्तु पूर्णता का मेरा अन्तिम उदाहरण एक चित्र है जो लगभग साठ वर्ष पूर्व एक अशिक्षित विद्यालयी छात्र द्वारा मद्रास में प्रदर्शित किया गया। कोई चौंतीस ढाँचों के निवृत्त व्यंग्यचित्र में राक्षस और देवता के बीच विरोधी ऊर्जा के एक निरपेक्ष तूफान की संरचना है। इस अंकित भँवर के उन्माद में अवश्य ही सब कुछ अन्तर्विष्ट है जिसमें ईश्वर एक के बाद एक, विचार की तरह, एक स्पर्श रेखा पर एक विशुद्ध मस्तिष्क का साक्ष्य देती चेतना की तरह स्पर्श रेखा पर चक्रवात से बाहर निकल रहा है। मैं एक व्यक्ति के विचारों के साथ अपनी बात का अन्त करना चाहता हूँ, जो सामान्यतः इस लेख के विषय से सम्बन्धित नहीं है; ये शब्द बीसवीं सदी के महान प्रगीतात्मक कवि रेनर मारिया रिल्के के हैं। इन पंक्तियों को, बर्न (जर्मनी) के ''म्यूज़ी डि हिस्टोरी'' में उनके द्वारा एक भव्य चादरों की प्रदर्शनी की खोज के पश्चात उनके जीवन के अन्तिम चरण में लिखा गया था।

''अपने भ्रमण पर मैंने एक उत्तेजक खोज की; वृत्ताकार, वर्गाकार या नक्षत्राकार केन्द्र से युक्त श्याम, हरे या हस्तिदन्त के सदृश श्वेत धरात अपने आप में एक परिपूर्ण एक मनोहर संसार है। हाँ सत्य में, प्रत्येक हाथ से बुना गया, पूरी तरह अपने आप में परिपूर्ण एक मनोहर पूर्णता और शायद एक पूर्ण परित्याग है, प्रत्येक एक उद्यान है, पूरा आकाश एक ही सूत्र में बना है, बल्कि जिस प्रकार नींबू में पूरे स्थान में सुगन्ध भरी होती है, उसी प्रकार पूरा विश्व इसमें सिमट जाता है, जैसे ही यह फल पकता है—दिन और रात की तरह यह सबों को एक साथ मिश्रित कर लेता है। मैं अचानक चादर के सत्व को समझ गया। शायद यह इस प्रकार है- केवल धीमे और वास्तविक हस्त कार्यों में, परिवर्तनशीलता सम्पन्नीकृत हो सकती है, इस प्रकार भावानुवादों को छोड़ कर जीवन में चुपचाप समरूप पूर्णता प्रकट की जा सकती है, जीवन में एक कविता में जादुई मन्त्रोच्चार के द्वारा अपनी तरफ आकष्ट करने के लिए कछ दढ चेहरे सामने आ जाते हैं।"

भारतीयता की पहचान

कैलाशचंद्र पंत*

साध्वी भगवती सरस्वती ने हाल ही में प्रकाशित एक लेख में लिखा है कि भारत को कैमरे की लेंस से नहीं देखा जा सकता। उसे समझने का आधार उस मानस को पहिचानना है जो बहुत गहरे तक यहाँ जड़ जमा चुका है। इसे केवल अनुभव से जाना जा सकता है। साध्वी स्टेनफोर्ड विश्विद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त ऐसी महिला हैं जिन्होंने मनोविज्ञान में पी.एच.डी. की है। वे सेवा और त्याग को मिशन बना कर साध्वी बनी हैं। इस कथन का भावार्थ यह है कि सतही तौर पर समझना कठिन है कि भारत और भारतीयता की समझ भारतीय दष्टि को आत्मसात करके पैदा की जा सकती है।

यह अकेला उदाहरण नहीं है उन लोगों के अनुभव का जो विदेशों से आकर भारत को समझने की कोशिश करते रहे। पिछले वर्ष ही अमेरिका में बसे भारतीय राजीव मल्होत्रा की पुस्तक 'बिइंग डिफरेंट' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की चर्चा भारत से ज्यादा पश्चिमी विद्वानों के बीच हो रही है। उसमें एक रोचक उल्लेख आया है। कुछ वर्ष पूर्व इलाहाबाद कुंभ को देखने उनके साथ कुछ अमेरिकी विद्वान और पत्रकार भारत आए थे। उन्होंने कुंभ में जहाँ तहाँ प्रवचनों का शोर सुना, भजन मंडलियो को गाते-नाचते देखा, कहीं साधुओं की जमात को चिलम पीते देखा, और कहीं जन—समूह को गंगा में स्नान करते देखा। यह सब देख कर उनकी प्रतिक्रिया उन्होंने राजीव मल्होत्रा को दी। मल्होत्रा ने उनसे कहा कि आप लोग स्नान करने वालों, भजन-कीर्तन करने वालों, प्रवचन सुनने वालों से पूछिए कि क्या वे अशांति का अनुभव कर रहे हैं! उस अमेरिकी समूह में कुछ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर भी थे। उन्हें बात गहरी लगी। शांति मन की अवस्था होती है। बाहरी बातों से या दिखावे से वह प्राप्त नहीं की जा सकती है। कंभ में जटी भीड के मानस को अनभव से ही समझा जा सकता है।

* कैलाशचन्द्र पन्त, मन्त्री-संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं प्रधान सम्पादक. अक्षरा: पता : 9/35 सहयाद्रि परिसर. भदभदा रोड. भोपाल।

कड़कड़ाती ठंड में बिना किसी छाया के भी वे लोग अपूर्व आनंद का अनुभव कर रहे थे। इस आनंद की अनुभूति के लिए गहरी आस्था अपेक्षित है। लाखों की संख्या में बिना किसी प्रचार के कुंभ मेले में एकत्र समाज कुछ तो आंतरिक सुख पाता ही होगा। भारत की पहचान इसी आस्था से होती है। विदेशियों की नजर में यह अंधविश्वास और पिछड़ापन हो सकता है। लेकिन भारतीय संस्कति की विकास-यात्रा में यही विश्वास उसका केंद्र-बिंदु रहा है।

यही आस्था थी जिसने भारतवासियों को ऋषि परंपरा से अद्‌भुत कुछ रहस्यों पर विश्वास करना सिखाया। वे रहस्य तत्व-ज्ञान से जुड़े थे। उनका मुख्य प्रतिपाद्य था—सृष्टि का रहस्य क्या है? व्यक्ति और विश्वात्म का संबंध क्या है? उस चिंतन का रहस्य इस मंत्र में साकार होता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पर्णस्य पर्णमादाय पर्ण मेवावशिष्यते।।

इससे जो सोच उभरता है वह संपूर्णता का है। भारतीय दृष्टि खंडित विचार नहीं करती। इसीलिए उसकी मान्यता है—मानव, विराट की एक आदर्श प्रतिमूर्ति है—जैसे हम, वैसा ही वह विराट पुरुष जिसकी तरंगें ही परी सष्टि में व्यक्त हो रही हैं। यही सिद्धांत परुष सक्त में अभिव्यक्ति पाता है—

सहस्रशीर्षा परूषः साहस्राक्षः सहस्रपात।

यही है मानव की संपूर्ण विकास को विकास पुरूष के भीतर देखने की दृष्टि।

इस तत्व—ज्ञान को एक व्यापक जन-समूह द्वारा अंगीकार कर लिया गया। इतने बड़े पैमाने पर स्वीकृति ज्ञान अनुभव की कसौटी पर जरूर कसा गया होगा। उसमें जीवन की सच्चाई का अंश देखा गया होगा। ऐसा तत्व—ज्ञान जिस समूह द्वारा अनुकरणीय माना गया वह भारत देश का निवासी है। उस भारत देश की सीमाओं का संकेत भी कर दिया गयाः—

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तदभारतं नाम भारती यत्र संततिः।।

जिस ऋषि परंपरा ने ऐसा सूक्ष्म अध्ययन किया और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को सुलझाया उन पर आस्था जमना स्वाभाविक था। यह आस्था, सौ साल या हजार साल की नहीं हैं। अनादि काल से चली आ रही हैं। उस भारतीय समाज को आर्य कहा गया, सनातन धर्मी कहा गया और परवर्ती काल में उसे हिंदू संज्ञा दे दी गई। नाम कुछ भी रहा हो आस्था का स्रोत वही ऋषि परंपरा रही। यह अलग बात है कि भारत के पराभव-काल में विदेशों के तथा-कथित विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हमारे आर्ष ग्रंथ केवल मिथक हैं और वेद गडेरियों का गीत है। भारतीय विद्या के

संबंध में इन तथा कथित भारतीय विद्याविदों को विल डरेंट ने फटकार लगाते हए लिखा था—

It is true that even across the Himalayan barrier India has sent to us such questionable gifts as grammar and logic, philosophy and fables, hypnotism and chess, and above all our numerals and our decimal system. But these are not the essence of her spirit; they are trifles compared to what we may learn from her in the future. As invention, industy and trade bind the continents together, or they fling us into conflict with Asia, we shall study its civilisation more closely and absorb, even in enlmity, some of its ways and thoughts. Perhaps in return for conquest, arrogance, and spoliation, India will teach us the tolerance and gentleness of the mature mind, the quiet content of the unacquisite soul, the calm of the understanding spirit and a unifying, pacifying love for all being. [The Story of Civilisation : Our Oriental Heritage]

डूरेंट ने भारत की इस आंतरिक शक्ति को सही पहिचाना। वेद सृष्टि के संपूर्ण स्वरूप को पराशक्ति के यजन या इसके यज्ञरूप में ही परिभाषित करता है। समग्र संसार के प्राणियों की परितुष्टि का विधान पंच महायज्ञ में सन्निहित है। देव-मनुष्य-पशु-पक्षी-सिद्ध-सर्प-प्रेत-पिशाच-वृक्ष ये सभी मेरे द्वारा प्रदत्त अन्न की इच्छा रखते हैं। वे इसे पाकर सुखी और परितृप्ति प्राप्त करें। इस भावना के साथ यज्ञ किया जाता है। यह हमारी सांस्कति विरासत जिसमें महत्व आंतरिक भाव का है। यही आत्म-यज्ञ है।

डूरेंट के इस कथन को साध्वी भगवती के उस कथन से मिलाकर देखें जो इस लेख के प्रारंभ में उद्धृत किया गया है। डूरेंट का यह निष्कर्ष सही है कि भारत अपरिचित आत्मा के मौन आयतन से, अंतरात्मा की समझ से प्राप्त होने वाली शांति और हर जीवधारी प्राणी के प्रति अविरोधी तथा एकात्म होने की शिक्षा विश्व को दे सकता है। साध्वी ने भी तो यही कहा है कि भारत को केवल अनुभव से उसके चित्त को समझ कर ही जाना जा सकता है। भारतीयों को वेद, उपनिषद और पुराण यही शिक्षा देते रहे हैं जो उनके उक्ति में समा चुकी है, संस्कारों का अंग बन चुकी है।

एक अन्य अंग्रेज चार्ल्स इलियट ने 1907 से 1912 तक हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। वस्तुतः उसने शोध ग्रंथ भी लिखा। चार्ल्स ने अपने ग्रंथ में हिंद धर्म की खास विशेषताओं का जिक्र करते हए लिखा—

Indian religion is as wilful and unexpected in its variation as human nature itself and that all generalizations about it are subject to execption. If we say that it preaches asceticism and the subjection of the flesh, we

may be confronted with Vallabhacharya who inculcate Self indulgence; if we say that it teachers re incarnation and successive lives, we may be toed that the Lingayats do not hold that doctrine. And though we might logically maintain that these sects are unorthodox, yet it does not appear that Hindus excommunicate them. Still, it is just to say that the doctrines mentioned are characteristic of Hinduism and are repudiated only by eccentric sects.

(Hinduism & Budhhism : Charles Eliot)

डूरेंट या चार्ल्स इलियट हों या साध्वी भगवती सरस्वती तीनों ही विदेशी हैं। परंतु उन्होंने भारत को समझने की कोशिश किसी विदेशी हित की पुष्टि करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी जिज्ञासा को शांत करने के खातिर निष्पक्ष ढंग से भारत के तत्व चिंतन की गहराई तक उतरने का प्रयास किया। भारत के संबंध में भ्रांतियाँ तो जानबूझ कर फैलाई गईं। उनका उद्देश्य भारत की आध्यात्मिक व्याप्ति, जीवन के महान लक्ष्य को पाने की उसकी साधना, उसके तत्व-चिंतन और उसके प्रचलित धर्म को अपने से हीनतर सिद्ध करना ही था। दुर्भाग्य से भारत के शिक्षित समाज पर ये भ्रांतियाँ हावी होती गईं। हम अपने महान उत्तराधिकार को विस्मृत करते चले गए। आज हम आत्म विस्मृति के ऐसे गर्त में जा धँसे हैं कि अपनी भारतीय पहिचान को भी खंड-खंड में देखने लगे हैं; यहाँ तक कि भारत के एकात्म स्वरूप को भी विभाजित इकाइयों में समझने की कोशिश की जा रही है।

विभ्रम के शिकार लोगों को स्वामी विवेकानंद के जीवन की एक घटना से सबक लेना चाहिए। स्वामी जी जब अमेरिका की यात्रा कर रहे थे, एक नगर के कुछ धनी सज्जनों ने उनसे कहा था—भारत निर्धन देश है और अमेरिका भौतिक दृष्टि से संपन्न देश। क्या यह उचित नहीं होगा कि भारत के लोगों को सुख-समृद्धि से परिपूर्ण जीवन का निर्माण करने के लिए अमरीकी जीवन पद्धति स्वीकार कर लेनी चाहिए। स्वामी जी ने उत्तर दिया—मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु एक कठिनाई है। आपकी सभी पद्धतियाँ अभी प्रयोगावस्था में हैं। भारत एक प्रचीन राष्ट्र है। मैं मानता हूँ कि हमारी व्यवस्था में समय के साथ कुछ विकृतियाँ आई हैं। इन्हें सुधारना पड़ेगा। किन्तु हमने एक ऐसी समाज-व्यवस्था निर्मित की है जो हजारों वर्षों से सुस्थिर रही है और जिसने हमारे समाज की उत्कृष्ट स्थापना की है। यह व्यवस्था करना ही हो तो उसे भी समय की कसौटी पर सही सिद्ध होना चाहिए। आपकी व्यवस्था को कम से कम पाँच सौ वर्षों तक तो कहीं सही सिद्ध हो जाने दीजिए। इतने वर्षों में यदि आपकी व्यवस्था सही परिणाम देती है तो भारतीय लोग उसे स्वीकार करने में किंचित भी नहीं हिचकिचाएँगे।

स्वामी विवेकानंद के जीवन का यह प्रसंग लगभग सवा सौ वर्ष पुराना है। आज हम क्या देख रहे हैं? अमेरिका तो अमेरिका, उसकी जीवन पद्धति को अपनाने वाले युरोपीय देश भी आर्थिक संकट झेल रहे हैं और अपनी अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए आर्थिक उपनिवेशों की तलाश में नए नए हथकंडे अपना रहे हैं। इतना ही नहीं पश्चिमी दुनिया से साम्यवाद के रूप में जो नया आर्थिक विकल्प आया था वह तो सोवियत संघ में सत्तर वर्षों में ही बिखर कर असफल हो गया। जबकि भारत पिछले डेढ़ हजार वर्षों से आक्रमण सहते हुए, आर्थिक दारिद्रय से जूझते हुए भी, अपनी जमीन पर खड़ा रह सकने का साहस दिखा रहा है। हमने पश्चिम के भौतिकवादी जीवन-दर्शन की निस्सारता को बहुत पहले ही समझ लिया था। हमारा चिंतन प्रकृति को केंद्र में रखकर संयमित उपभोग में विश्वास करता है। हमारा आध्यात्मिक दर्शन सिखाता है कि मनुष्य केवल देह नहीं है। वह आत्मा से संचालित और संवर्धित होता है। ऐसा भी नहीं है कि हमने सामाजिक विकृतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। समाज-सुधारकों की एक लम्बी श्रृंखला इस देश में प्रकट होती रही। भक्ति आंदोलन का गहराई से विश्लेषण किया जाय तो पता चल जाता है कि वह सामाजिक जागृति का विराट आंदोलन था। कबीर, रैदास, नानकदेव आदि निर्गुण संत हों या तुलसी, सूर, मीरा जैसे समुण संत हों उन्होंने समाज को नया दिशा दर्शन दिया। भारत की चली आ रही सामाजिक संरचना को राजनीतिक पराभव के उस युग में जिंदा रखना इन्हीं संत कवियों द्वारा संभव हुआ। सिखों के दशम गुरू गोविंद सिंह ने जिस पंच प्यारों की निर्मिति की थी, उनमें विभिन्न प्रदेशों के और विभिन्न जातियों के व्यक्ति शामिल किए थे। सामाजिक भेदभाव को दूर कर समाज की स्थापना के लिए इससे बड़ा क्रांतिकारी कार्य क्या हो सकता था? गुरू नानकदेव जी ने एक ही सत् ओंकार का हर्ष उद्‌घोष ही तो गुरूवाणी में किया है। इसके बाद हमें समर्थ गुरू रामदास, शंकरदेव, स्वामी दयानंद, आदि समाज-सुधारकों की लंबी श्रृंखला दिखाई देती है। हमारे अपने समय में महात्मा गाँधी का आंदोलन जहाँ राजनीतिक था, वहीं सामाजिक भी था। इन सभी महापुरुषों ने भारत की एकात्मता का दर्शन किया था और उसकी विराट आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विरासत को पुष्ट किया था। इनके मन में कोई हीन-ग्रंथि नहीं थी। देश का सम्यक चित्र इनके सामने रहा।

इस विस्तृत विवेचन के बाद समझा जा सकता है कि भारत वस्तुतः क्या है? और भारतीयता की पहचान के कौन से तत्व हैं जिनकी अनदेखी कर भारतीयता की पहिचान संभव नहीं हो सकती।

श्री अरविंद ने भारत को परिभाषित करते हुए लिखा था—

"हमारी मातृभूमि क्या है? वह एक भूमि का टुकड़ा ही तो नहीं है, न वाणी का एक अलंकार है और न मस्तिष्क की कल्पना की एक उड़ान मात्र है। वह एक महान शक्ति है जिसका निर्माण उन करोडों एककों की शक्ति को मिलाकर हआ है जो राष्ट

का निर्माण करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे सारे करोड़ों देवताओं की शक्ति को एकत्र कर एक बलराशि संचित की गई और उसे परस्पर जोड़कर एकता स्थापित की गई जिसमें से भवानी महिषा-मर्दिनी प्रकट हुईं। वह शक्ति जिसे हम भारत भवानी कहकर पुकारते हैं, तीस करोड़ लोगों की शक्तियों की जीती जागती एकता है, पर वह निष्क्रिय है, तमस् के इंद्रजाल में बंदी होकर. अपने पत्रों की आत्मसक्त क्रिया-हीनता के वशीभत होकर"—

(देश की क्रांतिकारी तैयारी;' 1905)

(श्री अरविंद ने सन् 1905 में तीस करोड़ की संख्या का उल्लेख किया था. जो आज के संदर्भ में 120 करोड़ पढ़ी जा सकती है)

'भारत माता की जय' का उद्घोष करने वालों को यह समझना होगा कि वह भारत क्या है? इस पवित्र भाव के मन पर छाते ही हम समझ लेंगे कि भारत देश में जन्म लेने मात्र से हम भारतीय कहलाने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते; संविधान प्रदत्त नागरिकता का अधिकार भी हमें वह पात्रता नहीं दे देता। ये सब तो बाह्य उपादान हैं जिन्हें भारतीयता बहुत मान्यता नहीं देती। भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री रमेशचंद्र लाहोटी ने एक लेख में भारतीयता को स्पष्ट करते हुए लिखा था :—

" 'भारतीय' केवल परिभाषिक नाम अथवा विशेषण मात्र नहीं है। भारतीय होने से जुड़ी है भारत के वंशज होने की पहिचान, भारत माँ की संतान होने का अभिमान, भारतीभूमि की मिट्टी से इस शरीर की रचना होने का अहसास, भारतवर्ष की सीमाओं की रक्षा करने का उत्तरदायित्व और भारत का होने के नाते इसके संपन्न साहित्य, उदात्त दर्शन और गहन चिंतन से लगाव। यह स्मरण हो जाता है कि भारत कभी विश्व-गुरू रहा है। आध्यात्मिक उन्नयन में न कोई हमारा जोड़ रहा है और न कोई हमारा सानी। यह तो स्मरण रहे, पर इस चिंता के साथ कि हमारा ह्रास भी हुआ है और पतन की ओर कछ बढें हैं। इस सबका मिलाजला रूप है भारतीयता।"

('भारतायन' पृ.834)

जस्टिस लाहोटी ने जो बात अंत में स्मरण दिलाते हुए लिखी इस पर स्वामी विवेकानंद और श्री अरविंद सहित अनेक विचारकों ने चेतावनी दी थी। हमारे दर्शन-ग्रंथों में आत्म विकास के मार्ग में आत्म शुद्धि और आत्म-विश्लेषण का आग्रह निरंतर विद्यमान रहा है। जो बात व्यक्तिशः साधना के लिए जरूरी है, वह किसी भी जाति और राष्ट्र के लिए भी आवश्यक है। इस प्रक्रिया के अवरुद्ध होते ही विकास की गति कुंठित होती जाती है और अंततोगत्वा हम अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं। दुनिया की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ पुरातत्व की खोजों का विषय बनी हुई हैं। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति समय की कठोरतम परीक्षा के बावजूद अपना अस्तित्व न केवल बनाए हुए है, प्रत्युत समानांतर सभ्यताओं के लिए खोज और ईर्ष्या का विषय बनी हई है। इसके लचीलेपन. खले-मन. खले-विमर्श और बौद्धिक तर्कों के

समक्ष दुनिया के किसी भी चिंतन का टिक पाना संभव नहीं है। आज भी विश्व के बौद्धिक जगत को अमेरिका में बस गए राजीव मल्होत्रा खुली बहसों में निरूत्तर कर रहे हैं। सौ-सवा सौ वर्ष पहले ही स्वामी विवेकानंद ने शिकागो के धर्म सम्मेलन में अपने व्याख्यान से भारतीय दर्शन और चिंतन की श्रेष्ठता सिद्ध करते हए विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को चकित और निरूत्तर कर दिया था।

भारत पर आरोप लगाया जाता है कि यहाँ की त्यागपरक संस्कृति और दर्शन ने साधु-सन्यासियों की जमात खड़ी कर दी जिसने जीवन और कर्म से पलायन की शिक्षा भारतीयों को दी। भारत में प्रतिष्ठिा गीता में जिस प्रकार विवेचित की गई है इसे समझने वाले इस बेहदा आरोप को निरस्त कर देते हैं। भगवान हैं। भगवान ने अर्जन से कहा था—

श्रेयानि स्वधर्मो विगुणः परधर्मत्स्विमुष्ठितात।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

(भली प्रकार से किए हुए परमधर्म (दूसरे ही धर्म) से गणरहित स्वधर्म में मत्य भी कल्याण प्रद है, परधर्म भयानक होता है।)

मोहवश युद्ध से पलायन करते हुए अर्जुन को राग-द्वेष छोड़कर अपने कर्तव्य-कर्म करने की कैसी सद् प्रेरणा दी गई थी। अपने धर्म पर आरूढ़ रहकर कर्म करने की प्रेरणा देते समय सावधानी इस बात की बरतनी होती है कि कर्म—फल में आसक्ति न रहे। यह सामान्यतः संभव नहीं दिखाई देता। जब किसी परिणाम की संभावना न हो तो कर्म की ओर मनुष्य प्रवृत्त ही क्यों होगा? गीताकार इसीलिए स्वधर्म का संकेत करता है और स्वधर्म का निर्धारण पूर्व जन्म के संचित कर्म-फलों से होता है। यही है कर्म सिद्धांत, जो हिंदू तत्व-चिंतन को गहराई देता है। कर्मयोग इसी आधार भित्ति का विस्तार है जिसमें प्रकृति के तीन गुणों—सत्, रज, तम—में सामंजस्य बैठाने की बात की गई है। कर्मयोगी परम शांति और निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का तथा परम कर्मशीलता के बीच भी मरूस्थल की निस्तब्धता और शांति का अनुभव करता है।

भारत के इस तत्व-चिंतन को समझ लेने, समझकर आत्म-सात कर लेने और तदनुरूप आचरण में उतारने के बाद ही भारतीयता को समझ पाने का दावा किया जा सकता है। उपलब्धि आसानी से हासिल नहीं हो सकती। इसके लिए एक जटिल पथ है जिससे गुजर कर आत्मसंयम साधा जाता है। इस पथ की कठिनाई को देखते हुए ऋषि परम्परा ने सन्यासियों को इस दिशा में अग्रणी किया। उनकी तपस्या से निःसृत निष्कर्ष उन्होंने सामान्य समाज को सरल शब्दों में प्रदान किए। चूँकि भारतीय समाज की सन्यासियों के प्रति एक विशेष आस्था हर युग में रही इसलिए उन्होंने उनके वचनों का अनुगमन किया। ऊपर जिस आत्म संयम की बात कही गई और जिसके कारण कर्मयोगी परम कर्मशीलता के बीच शांति और निस्तब्धता का अनभव कर पाता है उस

आत्म संयम का एक छोटा सा निर्देश है—'त्येन त्यक्तेन भुजीथः। आगे इसका व्यावहारिक रूप फल की कामना रहित कर्म में फलितार्थ होता है।

जीवन को उसकी समग्रता से जिस चिंतन पद्धति ने देखा है, उसी ने आध्यात्मिकता की सुहृढ़ नींव पर भारत की सामाजिक संरचना की है, वह समय की परीक्षा में खरी भी उतरी है। इसमें अपने विचारों पर दृढ़ रहने की क्षमता है पर नए विचारों को अपने अनुरूप ढाल लेने का लचीलापन भी है। भारत में रहने वाला प्रत्येक उसकी शक्ति है। यह संपूर्ण समाज जिसको अपनी आस्था देता है और जिससे वह स्वयं शक्ति ग्रहण करता है उससे एकाकर होने वाला प्रत्येक जन सही अर्थों में भारतीय है। उसकी प्रत्येक साँस भारत माता के चरणों में समर्पित होनी चाहिए। उसके प्रत्येक कर्म में भारतीयता व्यक्त होती है, वह प्रत्येक प्राणी के प्रति सद्भाव और समानता का भाव रखता दिखाई देता है और इस बात के प्रति सचेत रहता है कि किसी कर्म से भारत माता लज्जित न हो तो उसकी सही पहिचान स्थापित हो जाती है। हमारा कर्तव्य है कि भारतीयता की इस पहिचान के प्रति सचेत रहें।

रवीन्द्र शर्मा (गरुजी) की बातचीत का महत्व

कमलेश*

ज्ञान के अंग के रूप में समाज विज्ञानों का महत्व सुनिश्चित नहीं है। कम से कम पराविद्याओं में उनकी गणना नहीं हो सकती। अपरा विद्याओं में भी उन्हें द्वितीय कोटि में ही रखा जाएगा। पिछले कुछ दशकों से पश्चिमी देशों में समाज विज्ञानों को किन्हीं अन्य विद्याओं के साथ जोड़ कर उन्हें महत्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता रहा है। किन्हीं दर्शनों के साथ जुड़ कर समाज विज्ञान का कोई नया सम्प्रदाय बन जाता है। समाज के क्षेत्र में की जाने वाली अपनी स्थापनाओं को कुछ महत्वाकांक्षी समाज वैज्ञानिक 'दर्शन' का महत्व देने लगते हैं। लेकिन दर्शन की परिधि में तो 'सत्य' ही आ सकते हैं। समाज विज्ञान में 'सत्य' नहीं, प्रायः समाज के विवरण ही होते हैं। उन्हें 'सत्य' का आस्पद नहीं मिल सकता। समाज विज्ञानों में कभी-कभी कुछ लोग 'सत्य' शब्द का प्रयोग करते भी हैं तो वह क्षीण अर्थ में ही होता है। समाज विज्ञानों के दायरे में पूर्ण अर्थ में 'सत्य' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती।

भारत में एक शताब्दी या अधिक समय से समाज विज्ञानों की शिक्षा दी जा रही है। समाज विज्ञान के दो भाग होते हैं- इतिहास और समाज शास्त्र। इतिहास की शिक्षा अपेक्षाकृत पहले से दी जा रही है। इतिहास की विद्या यूरोप में भी सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी से ही विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में आयी। भारत में तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही इतिहास लिखा और पढ़ाया जाने लगा। इतिहास में कालक्रम से समाज व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों, परिवर्तन के घटकों और परिवर्तन के प्रवर्तकों का विवरण होता है। इसमें कालक्रम से होने वाले राजनीतिक परिवर्तनकारियों अर्थात राजाओं और राजकर्मियों के चरित का भी अध्ययन होता है। वर्तमानकाल में कई तरह के इतिहासों की कल्पना की जाती रही है। इनमें राजवंशावलियों के अतिरिक्त सामान्यजनों का इतिहास, सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास, भू-राजनीतिक तत्वों के परिणामों का विवरण. पिछले इतिहास के तत्वों के आधार पर भविष्य के इतिहास की कल्पना

*कमलेश. बी-25 बसन्त कंज एनक्लेव. नयी दिल्ली-110070 मो. 9873259909

आदि। किसी भी प्रकार का इतिहास एक भौगोलिक सीमा में रहने वाले मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों और क्रियाकलापों का विवरण कहा जा सकता है। कुछ महत्वाकांक्षी इतिहासकार अपने समय का इतिहास 'फील्ड वर्क' करके लिखने का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

समाज विज्ञानों के लिए क्षेत्र में काम करने ('फील्ड वर्क') का बड़ा महत्व होता है। क्षेत्र में किया जाने वाला अध्ययन ही उनको अपनी विद्या की सही समझ देता है। उसके बिना विद्या को सुडौल रूप नहीं मिलता। पश्चिमी समाज विज्ञानों की शुरुआत ऐसे ही 'फील्ड वर्क' से हुई थी। तब के 'फील्ड वर्क' के लिए साम्राज्य का अंग बनाये गये उपनिवेश बहुत बड़ा क्षेत्र प्रदान करते थे। कई शताब्दियों से अफरीका जैसे महाद्वीप में हर आदिम समाज द्वारा विविध रीतियों से अर्थ ग्रहण करने के प्रयत्नों का अध्ययन समाज विज्ञानों की ज्ञानचर्या का अनिवार्य अंग रहा है।

भारत के भी अनेक समाजों, गाँव समाजों और आदिम समाजों का अध्ययन इंग्लैण्ड और अन्य पश्चिमी देशों के समाज वैज्ञानिकों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू किया गया। इनमें अनेक प्रयत्न विभिन्न क्षेत्रों के 'गजेटियरों' में या अनेक क्षेत्रों के 'ट्राइब्स और कास्ट्स' की रिपोर्टों और दसवर्षीय जनगणनाओं की भूमिकाओं में दबे पड़े हैं। ये अध्ययन समाजों के बाहरी लक्षणों को भी अपने दायरे में पूरी तरह समेट नहीं पाते थे। हिन्दू समाजों के अध्ययन में कभी-कभी शास्त्र ग्रन्थों का भी उपयोग किया जाता था, फिर भी बात नहीं बनती थी। भारतीय समाज के 'जाति' जैसे तत्व की भी पूरी समझ नहीं बन पायी, हालाँकि बहुत से विदेशी पादरी 17वीं शताब्दी से ही जाति को समझने के लिए अनेक तरह की चेष्टाएँ करते रहे थे। बल्कि उसके भी पहले 13वीं शताब्दी में अल-बरूनी भी ऐसा प्रयत्न कर चुके थे जिसकी आज तक वाहवाही होती रहती है।

इस सन्दर्भ में हम रवीन्द्र शर्मा जी की बातचीत से मिलने वाले सामाजिक ज्ञान के महत्व को समझ सकते हैं। रवीन्द्र शर्मा जी ('गुरु जी') अपनी बातचीत में अपने द्वारा देखी-गुनी-सुनी गयी बातों का ही विवरण देते हैं। लेकिन अचानक हमें लगता है कि उस विवरण से हमारी आँखों के सामने समाज का पूरा नक्शा खुलता जा रहा है। लोगों के बीच पीढ़ियों में विकसित हुए सम्बन्ध, अनुष्ठानों में एक-दूसरे के प्रति निश्चित हुए दायित्व और इन दायित्वों से व्यक्ति की आत्मनिर्मिति-इन्हीं प्रक्रियाओं से समाज निर्मित होता हुआ लगता है। हमें यह भी समझ में आता है कि उस समाज में क्या प्राणवान है और क्या नाशमान हो चुका है। रवीन्द्र शर्मा जी अपनी बातचीत में जिस जीवन्त गाँव का नक्शा हमारे लिए खींचते हैं, स्वयं उन्हें इस गाँव का परिज्ञान कैसे हुआ?

रवीन्द्र शर्मा जी का जन्म पुराने निजाम हैदराबाद राज्य के अंग मराठवाड़ा के आदिलाबाद नामक गाँव/कस्बे में हुआ था। उनके पितामह कभी पंजाब से रेल बिछाने

का कार्य करते हुए आदिलाबाद पहुँचे। फिर वहीं बस गये। रवीन्द्र शर्मा जी तो अब पंजाबी बोल भी नहीं पाते। वे तेलुगू ही बोलते हैं। निजाम के इलाके की उर्दू या हिन्दी भी वे तेलुगू तर्ज की मिश्रित भाषा में बोलते हैं। जो लोग इन इलाकों की बोलियाँ जानते हैं, उन्हें पता है कि निजाम के इलाके की हिन्दी/उर्दू कितनी शिष्ट और कितनी मीठी होती है। विशेष कर गुरू जी के मुख से निकली बोली अत्यन्त सहज, अत्यन्त मधुर और सम्प्रेषणपूर्ण होती है।

रवीन्द्र शर्मा जी आदिलाबाद में प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के बाद हाईस्कूल की पढ़ाई के लिए हैदराबाद गये। तब तक यह प्रकट हो चुका था कि उनका कला का अभ्यास उनकी प्रतिभा के अधिक अनुकूल है। इसीलिए हैदराबाद की पढ़ाई पूरी करके वे बड़ौदा चले गये। कुछ पहले से ही बड़ौदा विश्वविद्यालय का आर्ट कॉलेज कला की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हो चला था। बड़ौदा विश्वविद्यालय से कला की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे कला के अध्यापक नहीं बने, वे आगे के अध्ययन के लिए पेरिस भी नहीं गये, (बड़ौदा में ही उन्हें इन दोनों के प्रस्ताव मिले थे।) वे सीधे अपने गाँव आदिलाबाद वापस चले आये।

रवीन्द्र शर्मा जी को आदिलाबाद का बहुत सा ज्ञान अपनी बाल्यावस्था में स्वयमेव मिला रहा होगा। बड़ौदा से वापस आकर उन्होंने एक तरह से क्षेत्र संन्यास ले लिया। वे अनेक वर्षों तक अपने गाँव से बीस किलोमीटर की परिधि में ही रहते रहे। कोई बीस वर्षों तक वे अपने गाँव से कभी बाहर नहीं गये। वे गाँव के हर कारीगर परिवार में कुछ वर्ष रहते थे। उसकी कारीगरी को पूरी तरह सीखते थे, उसके परिवार के रस्मों, तीज-त्योहारों, पूजाओं और पर्वों और गाँव के शेष समाज के साथ उसके सम्बन्धों को उनकी पूरी वाह्यता और उनकी पूरी आन्तरिकता में समझते थे। एक तरह से वे उसकी कारीगरी से पूरी तरह एकाकार हो जाते थे। इस तरह उन्होंने हर कारीगर परिवार में दो-दो, तीन-तीन बरस लगाये। ये कारीगर लोग ही उन्हें 'गुरु जी' कहने लगे, धीरे-धीरे वे पूरे गाँव वालों के लिए ही 'गुरु जी' बन गये। जब उन्होंने सारी कारीगरियाँ सीख लीं तो उन्होंने गाँव में एक 'कला आश्रम' बनाया।

कारीगरियाँ सीखने का मतलब विविध कारीगरियों के साथ जुड़े हुए अनुष्ठानों को भी आत्मसात करना था। उनके साथ जुड़ी हुई व्यवस्थाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना था। कारीगरियों का सम्बन्ध गाँव के जीवन और व्यवहारों से जुड़ा हुआ था। कारीगर अपना कार्य गाँव वालों के लिए करते थे। गाँव वालों के साथ उनका यजमानी का सम्बन्ध था। अपने कार्य के बदले में वे गाँव वालों से कोई अपेक्षा नहीं करते थे। लेकिन जिस तरह की प्रथाएँ गाँव में सुदृढ़ हो गयी थीं उनके अनुसार स्वयमेव उनकी सारी जरूरतें पूरी होती रहती थीं। कोई भी अपनी जरूरतों को इस तरह नहीं बढ़ाता या फैलाता था कि उसे गाँव के बाहर जाकर कुछ करने का आश्रय लेना पड़े। गाँव

को 'आत्मनिर्भर' कहने का तात्पर्य यही रहा होगा। काफी प्राचीनकाल से विदेशी यात्री भारतीय गाँवों के 'आत्मनिर्भर' होने का उल्लेख करते रहे थे।

'गुरु जी' बाल्यकाल से ही इस गाँव के अन्तर्सम्बन्धों को देखते रहे थे। बड़ौदा से लौटने के बाद वे इन अन्तर्सम्बन्धों के अंगभूत हो गये। उन्होंने सबसे ऐसे सम्बन्ध बना लिए कि उन सम्बन्धों की आन्तरिकता में बस कर सारे सम्बन्धों के जाल को ग्रहण किया जा सके। 'गुरु जी' को यह बात समझ में आ गयी कि पूरा गाँव किस तरह आपसी सम्बन्धों में विकसित हुई व्यवस्थाओं और अनुष्ठानों पर टिका हुआ है। वे इस बात को समझ तो गये लेकिन इस बात को कैसे दसरों को बतलाया और समझाया जाए।

शुरू से ही 'गुरु जी' के मन में लिखने से कुछ दुराव रहा है। जैसे लिखने से मौखिक बात का जादू कुछ घट जाता है। सहज जीवन की बात बोलने में उससे नैकट्य बना रहता है। बातचीत वास्तविकता से बहुत दूर नहीं जाती। इसलिए वे केवल बोलते हैं। बोलना भी भाषण जैसा नहीं। वे केवल आपसे बातचीत करते हैं। अगर वे 100-50 लोगों के सामने बोल रहे हैं तब भी लगता है कि हर श्रावक से उनकी अभिन्नता है और उनकी बात हर श्रावक द्वारा अपने मन के एकान्त में सुनी जा रही है। बातचीत एक गाँव में बसने वाले लोगों के अन्तर्सम्बन्धों की है, वहाँ बसे हुए परिवारों के बीच के सम्बन्धों की है, गाँव में अनादिकाल से चली आ रही व्यवस्थाओं की है। बातचीत में परा गाँव आप की आँखों के और मन के सामने उपस्थित होने लगता है।

'गुरु जी' ने अपने जीवन में जो भी सीखा-गुना वह उनके मन में बस गया। उन्होंने पुस्तकें भी पढ़ी हैं। बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तकें। उनमें से बहुतेरी अब उपलब्ध नहीं हैं। उनका सारा ज्ञान मन में परत-दर-परत जमा हुआ है। गुरु जी जब बोलना शुरू करते हैं तब वह ज्ञान उनके मन से वाणी के रूप में गंगा की तरह प्रवाहित होता है। वे अनन्त काल तक बोलते रह सकते हैं और आप मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रह सकते हैं। उनकी घण्टे-डेढ़ घण्टे की बात-चीत में आप को क्या-क्या मिला है, यह आप को बाद में ही पता चल सकता है अगर आप बाद में उस पर गुनते रहें, मनन करते रहें। अपने जीवन अनुभव को उनकी कही बातों से मिलायें और समझें।

गुरु जी की सीधी-सादी लगने वाली बातें हमारे भीतर बहुत गहराई तक पहुँचती हैं। हम बरसों पूर्व अपने गाँव को छोड़ चुके हैं। हम उजड़ कर किसी नगर में बसने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम 'गुरु जी' से उनके गाँव की कथा सुन रहे हैं। उनकी कथा में हमें भूल रहे अपने गाँव का पूरा चित्र सामने आने लगता है। हमारा गाँव भी आज से 100-50 वर्ष पहले यही रहा होगा। वहाँ के लोग इसी तरह आचरण करते रहे होंगे। वहाँ इसी तरह की व्यवस्थाएँ चलती रही होंगी। उनके सम्बन्ध भी भारत सरकार और राजनेताओं द्वारा बताये जाने वाले उनके अधिकारों पर नहीं टिके होंगे। उनका

व्यवहार उनके ऋण भाव से प्रसूत हो रहा होगा। गुरु जी की बातें हमारे 'समाजज्ञान' पर चोट करती हैं। उनकी बातें हमारे 'इतिहास ज्ञान' को झुठलाती हैं।

जब हम गुरु जी की बात सुनने जाते हैं तो हमारे मन में कोई न कोई इतिहास अवस्थित होता है। जैसे-जैसे हम बातचीत सुनते जाते हैं, हमारे चित्त में एक नये तरह के 'इतिहास' का निर्माण शुरू होने लगता है। सम्भव है कि गुरु जी की एक दिन की बातचीत सुन करके हम अपने जाने हुए पुराने इतिहास की आलोचना करना शुरू कर दें और अपना एक नया इतिहास बनाने लगें। हम सब जो 'गुरु जी' के श्रावक हैं उनके लिए 'गुरु जी' की बातचीत का पहला या एक परिणाम तो यही है कि हम उनकी बातचीत के आधार पर अपना एक नया इतिहास रच सकने में समर्थ हो सकते हैं।

हमारे विद्यालयों में समाज शास्त्र भी पढ़ाया जाता है। समाजशास्त्र की पढ़ाई इतिहास के बहुत बाद शुरू हुई। भारतवर्ष की स्वाधीनता के पहले कुछ ही विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का विषय पढ़ाया जाता था। उदाहरण के लिए मुम्बई विश्वविद्यालय में पैट्रिस गेडेस ने 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सिविक्स' नाम का विषय पहली बार पढ़ाना शुरू किया। बाद में उनके कुछ विद्यार्थी जब शोध कार्य करने के लिए इंगलैण्ड गये तो उन्हें वहाँ समाजशास्त्र अथवा नृतत्वशास्त्र में शोध करने की अनुमति मिली। इन्हीं लोगों ने स्वदेश लौट कर विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र नाम की विद्या पढ़ानी शुरू की। यह मानवजातीय समाज का विश्लेषण करने का शास्त्र है। विश्लेषण करके मानव कार्यों के भिन्न-भिन्न भाग बनाये जाते हैं। इस शास्त्र में भी अनेक सम्प्रदाय हो चुके हैं और उनके प्रमाण ग्रन्थ यूरोप और अमरीका में लिखे गये हैं। इसमें हम जितना ही गहरे पैठेंगे, हम समाज के अमूर्त्त रूप को पहचानने के प्रयत्न में लगेंगे। कभी-कभी अपने समाज की विविध गतिविधियों का भी सर्वेक्षण करेंगे। उसके आधार पर कुछ उपपत्तियाँ बनायेंगे और बतायेंगे कि यह भारत का समाजशास्त्र विकसित हो रहा है। लेकिन उस समाजशास्त्र में हमारा समाज मर्त्त रूप यदा कदा ही दीखेगा।

भारतीय समाजों का शास्त्र तो पहले से ही मौजूद है। फिर भी लोग पश्चिमी समाजशास्त्र के प्रत्ययों को, उनकी अवधारणाओं को भारतीय समाज के अध्ययन में सिद्ध या असिद्ध करते हुए समाजशास्त्र की एक नयी विद्या रचने का सरंजाम करते हैं। इसके विपरीत 'गुरु जी' आदिलाबाद में स्थित अपने मूर्त्त समाज के बारे में बातचीत करते हैं। किसी अमूर्त्त समाज के बारे में नहीं, अपने गाँव में रहने वाले मूर्त्त मनुष्यों, महिलाओं, परिवारों, कारीगरों आदि की बात करते हैं। गाँव में रहने वालों के बीच में कैसे-कैसे सम्बन्ध हैं, उनमें कितनी बारीकियाँ होती हैं, कितनी ही परतें होती हैं, कितने तरह के दायित्व होते हैं, कितनी ही व्यवस्थाएँ होती हैं, कितने ही ऋण होते हैं. सबके अपने-अपने धर्म होते हैं- समाज के सारे रहस्य गरु जी की बातचीत में

खुलते जाते हैं और हमें लगता है कि (यदि हम प्रयत्न करें तो) हमारे चित्त में अपने समाज का एक नया समाजशास्त्र बनने लगता है।

इसीलिए हमें सोचना पड़ता है कि हम गुरु जी की बातचीत से क्या पाते हैं? उनकी बातचीत केवल रुचिकर प्रसंग ही नहीं होती। उनकी बातचीत ऐसा उपदेश है जो हमें अपने पढ़े हुए ज्ञान की समीक्षा करने के लिए प्रेरित करती है। उसको सुन कर हमें अब तक पढ़ा हुआ अपना इतिहास अपर्याप्त लगने लगता है। हमें लगता है कि हमें अपने लिए अपना एक नया इतिहास रचना होगा, तभी हम अपनी जानी हुई वास्तविकता के निकट पहुँच पायेंगे। यह नया इतिहास गुरु जी की बातचीत के आधार पर रचा जाएगा। हमें प्रतीत होता है कि गुरु जी की बातचीत अनन्तकाल तक चलती रहेगी और उनकी बातचीत में हमारा अपना इतिहास सामने आता रहेगा। अनन्तकाल तक, आज ही, अभी, इसी क्षण के अनन्त में।

यही बात हमारे अपने समाजशास्त्र के विषय में है। 'गुरु जी' की बातचीत सुनते हुए हमारे चित्त में हमारे समाज का चित्र भी उभरने लगता है। हमारे समाज को बाहर से देखने वाले लोग वह नहीं देख पाते कि हमारा समाज किस तरह से रचा और बसा है। फ्रांसीसी एलाँ दानिएलू 20वीं शताब्दी के चौथे दशक में अनेक वर्षों के लिए वाराणसी में बस गये थे और हिन्दू धर्म अंगीकार कर 'शिवशरण' नाम स्वीकार कर लिया था। उनका मूल विषय दर्शन, धर्म, संस्कृति और संगीत था लेकिन वे महात्मा गांधी और पण्डित जवाहर लाल नेहरू, दोनों से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने लिखा है कि महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू, दोनों ही भारतीय समाज को नहीं जानते थे। उन्हें भारतीय समाज को जानने का कभी अवसर ही नहीं मिला। भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के बाद वे आगे पढ़ने के लिए इंगलैण्ड भेज दिये गये। वहाँ से लौट कर आये तो जिस कार्य के लिए इंगलैण्ड में प्रशिक्षण प्राप्त किया था—वकालत- उस पेशे में लग गये। देश की स्वाधीनता के आन्दोलन में लग गये तो वह पेशा छूट गया। दोनों नेता भारत के किसी गाँव में न कभी बाल्यावस्था में रहे, न ही कभी बाद में किन्हीं भारतीय गाँवों से उनका आन्तरिक सम्पर्क रहा। लेकिन यह जरूर दुहराया जाता रहा कि भारत तो गाँवों में बसता है। इसलिए ये लोग गाँव को, भारतीय समाज को, अंग्रेजों की पुस्तकें पढ़ कर समझने का प्रयत्न करते थे। सम्भवतः महात्मा गांधी और पण्डित जवाहर लाल नेहरू इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते थे। यही इन लोगों के भारतीय समाज को समझने के बौद्धिक प्रयत्न की इतिश्री थी। गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज' के अन्त में भारत के गाँवों को समझने के इच्छुक पाठकों के पढ़ने के लिए कुछ पुस्तकों की सिफारिश की है। ये सभी पुस्तकें विदेशियों की लिखी हुई हैं। इनमें भारतीय गाँव पर सर हेनरी मेन की पुस्तक की सिफारिश है। आज कल भारतवर्ष के बौद्धिकों में 'हिन्द स्वराज' का बड़ा गुणगान हो रहा है। पर उसका भारत विषयक ज्ञान कहीं 'विदेशी ज्ञान' तो नहीं है इस पर सोचने की कोशिश नहीं की जाती। यह विडम्बना ही है। यही

बात नेहरू जी की 'भारत की खोज' के विषय में कही जा सकती है। वह भी इतिहास के विषय में भारत विषयक विदेशी ज्ञान पर आधारित है।

यह कहना निराधार नहीं होगा कि कम से कम पिछली दो शताब्दियों से हमें हमारा 'आत्मज्ञान' विदेशी लोगों द्वारा दिया जा रहा है। उसके पहले लगभग 700 वर्षों तक हमारे 'आत्मज्ञान' का हनन होता रहा था। लेकिन आज कल हम उस काल के बारे में बातचीत करते हुए शरमाते हैं। हम अपने व्यक्तित्व को थोड़ा ह्रासग्रस्त और क्षीणतर करते हुए केवल अंग्रेजी काल के बारे में सोचते हैं। जैसे उसके पहले के 700 वर्षों में हमारे व्यक्तित्व का पूर्ववत स्वतः विकास होता रहा था और हमारा समाज और हमारा इतिहास कुछ भी क्षतिग्रस्त नहीं हुआ था।

'गुरु जी' अपनी बातचीत के दौरान कभी कभी ऐसा कहते भी हैं कि हमारे गाँव का विनाश अंग्रेजी राज के दौरान ही हुआ। बात सही है लेकिन केवल इस अर्थ में कि इस्लामी शासन का हमारे गाँवों में इतनी दूर तक प्रवेश नहीं था, कि वह हमारे गाँव-गाँव को दूर तक प्रभावित नहीं कर सका था। साथ ही इस्लामी शासकों के पास हमारे गाँव को इतने मूल रूप में बदलने की क्षमता भी नहीं थी। अंग्रेजी राज में दूरन्त ग्रामीण और वन्य बस्तियों तक मालगुजारी वसूल करने का ढाँचा खड़ा कर दिया गया। दूरस्थ गाँव भी अंग्रेजी शान्ति व्यवस्था और न्याय पालिका के ढाँचे के अन्तर्गत आ गये।

'गुरु जी' के श्रावकों ने एक बड़ा काम यह किया है कि आधुनिक जगत के उपकरणों का उपयोग करके उनकी बातचीत के अभिलेख बना लिये हैं। अब तक हुई बातचीत के काफी अभिलेख तैयार हो गये हैं। अब इन अभिलेखों के आधार पर हमारा इतिहास और हमारा समाजशास्त्र कैसा दृष्टिगोचर हो रहा है, यह समझने का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि हममें से कोई लोग या कोई श्रावक इतिहासकार हों, या समाजशास्त्री हों। हम जो भी हों अपने लिए इतिहासकार बन सकते हैं, समाजशास्त्री बन सकते हैं। हम जो इतिहास या जो समाजशास्त्र बनायेंगे सम्भवतः उसमें शास्त्रपरकता का अभाव हो। हमें किसी न किसी स्तर पर कभी न कभी गरु जी की बातचीत का शास्त्र बनाना पडेगा। इस कार्य की अर्हताएँ क्या हैं?

हमें प्रयत्न करना होगा कि विश्वविद्यालयों से युवा इतिहासकारों और युवा समाजशास्त्रियों को चुन करके उन्हें छोटे-छोटे समूहों में गुरु जी की बातचीत सुनने के लिए प्रेरित करें, उनको ऐसा अवसर सुलभ हो इसका प्रबन्ध करें। हमें विश्वास है कि युवा इतिहासकारों और युवा समाजशास्त्रियों में अपने-अपने अनुशासन की वर्तमान अवस्था के विषय में तमाम तरह के प्रश्न उठ रहे होंगे। उनके द्वारा पढ़ा गया या पढ़ाया जाने वाला शास्त्र अपने अनुशासन के बारे में उनके मन में तमाम सन्देह पैदा कर रहा होगा। हम यह मान सकते हैं कि सन्देहों और प्रश्नों से भरा हुआ उनका उर्वर

मस्तिष्क 'गुरु जी' की बातचीत के निहितार्थों को ग्रहण करने की ओर उन्मुख हो रहा होगा। उनके मस्तिष्क में यह मन्थन चलते-चलते गुरु जी की बातचीत के आधार पर हमारे गाँव, हमारे समाज और हमारे इतिहास की शास्त्र रचना का रूप लेने लगेगा। वहीं से हमारे कार्य की और दायित्व की सफलता का पहला चरण शुरू हो जाएगा।

यहाँ अपना अनुभव बताता हूँ। मुझे जब भी गुरु जी की बातचीत सुनने का सुअवसर मिलता है तो मैं उनकी बातचीत सुनते हुए अपने गाँव का स्मरण करने लगता हूँ। जहाँ मैं लगातार केवल बाल्यावस्था में 13-14 वर्ष की आयु तक ही रहा था। फिर भी मन में बसा हुआ गाँव उसी तरह का गाँव लगता है जिस तरह के गाँव के दर्शन गुरु जी के बातचीत में होते हैं। प्रारम्भ में मुझे अपने गाँव के स्थूल समाज के ही दर्शन होते हैं। फिर बचपन की घटनाएँ सोचता हूँ तो गाँव वालों के बीच स्थापित सम्बन्धों की अनुगूंज सुनाई देने लगती है। गुरु जी ने इन सम्बन्धों पर लगातार ध्यान दिया है। इसलिए वे इनके सूक्ष्मतम स्तरों तक पहुँच पाये हैं। मेरे अपने जीवन में ऐसा नहीं हो पाया। हम लोगों का ध्यान बाल्यावस्था में पता नहीं किन-किन दिशाओं में भटक रहा था। पुराने गाँव खत्म ही हो रहे हैं फिर भी ऐसे गाँव बचे हुए हैं जो हजार-दो हजार साल पहले या तीन हजार साल पहले बसे थे। हमारे जन्मस्थान के पड़ोस के गाँव बुद्धकालीन हैं ही, इसके तो प्रमाण हैं, इससे भी प्राचीन हो सकते हैं। यदि इन गाँवों के युवा लोग 'गुरु जी' की तरह अपने ग्रामीण समाज में रहने वाले विभिन्न जातियों के लोगों, कारीगरों आदि के बीच सूक्ष्मतर सम्बन्धों पर सोचना शुरू करें तो 'गुरु जी' की बातचीत में मूर्त्त रूप ले रहे गाँव हमको भी प्राप्त होने लग सकते हैं। जब यह होने लगेगा तो हमें अपेक्षाकत अधिक यथातथ्य इतिहास और समाजशास्त्र उपलब्ध होने लगेंगे।

'गुरु जी' की बातचीत से भारतवर्ष में पुराने रूप वाली या पश्चिमी रूप वाली विद्याओं की आलोचना और नयी मौलिक विद्याओं की स्थापना हो सकती है। हमारे लिए इतिहास और समाजशास्त्र के अपने अनुशासन विकसित हो सकते हैं। इसके लिए प्रयत्न करने की प्रक्रिया में हमारे युवा इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के मस्तिष्क में मौलिक चिन्तन के बीज पड़ सकते हैं। एक सीमित अर्थ में यह पहला काम है जिसके लिए गुरु जी के श्रावकों को प्रयत्नशील होना चाहिए। यह उपदेश नहीं है क्योंकि यह कार्य मुझे स्वयं करने जैसा लगता है। गरु जी की बातचीत के श्रावकों को इस कार्य के विषय में सोचना चाहिए।

गुरु जी की बातचीत में भारतवर्ष का अपना समाजशास्त्र और इतिहास विरचित हो रहा है।

गरुजी का विमर्श

पवनकमार गप्त*

अपने जीवन में जो कुछ अच्छा हुआ है वह बस घट गया। उसके लिए अपन ने कोई अथक प्रयास किया हो, ऐसा नहीं। मसूरी के आस पास के गांवों में बस चलते फिरते, बिना किसी योजना के स्कूल इत्यादि से काम शुरू हुआ। उस समय शिक्षा की, गाँव के समाज की समझ नहीं के बराबर थी। हालांकि यह समझ - कि समझ की कमी थी - की समझ बाद में आयी। पढे-लिखे होने का (जिसको शिक्षित होने का पर्याय ही उस समय मानता था) अंदर में कहीं गुरूर भी था। पर गाँव की बुजुर्ग महिलाओं की बात कहीं, ईश्वर कृपा से, अंदर लग गई कि 'आप लोग तो पढ़ा लिखा कर हमारे बच्चों को बरबाद कर रहे हो, वह न घर का रहता है, न घाट का और कि 'बच्चों को होना सिखाओ, दिखना नहीं'। इन बातों का असर गहरा हुआ।

फिर महज इत्तेफाक से धरमपाल जी को पहले पढ़ने का और फिर मिलने का मौका लगा। आदमी कितने लोगों को जीवन में मिलता रहता है पर स्कूल कालेज के बाद यदा कदा ही किसी से घनिष्ठता और सहज रिश्ता बन पाता है। पर सौभाग्य ही है कि धरमपाल जी से बन गया। वे हर साल मसूरी दो एक महीने के लिए आने लगे। धरमपाल जी से एक ऐसा संबंध बना कि उनसे हर प्रकार की बात-चीत हो पाती थी, हल्की-फुल्की, गंभीर, दार्शनिक, मजाक, राजनीति, खाने पीने से लेकर समाज और पशु पक्षियों की और व्यक्तिगत घर-परिवार की भी। उनसे जब इन महिलाओं की बातों का जिक्र हुआ तो उनका पहला प्रश्न था, 'क्या आपने महात्मा गांधी को पढ़ा है।' और फिर तुरंत ही, 'क्या पढ़ा है'। पहली बार एहसास हुआ कि मैं तो गांधी जी को बिना ठीक से पढे ही यह मान बैठा था कि मैंने उन्हे पढ़ा है। मैंने तो उनके बारे में सुना और उनके बारे में पढ़ा था, उन्हें नहीं पढ़ा था। बाद में पता चला कि मेरी उस समय की हालत देश के प्रायः सभी पढे लिखों की है - बिना पढे. समझे. यह मान लेना कि

* पवन कुमार गुप्त, सिद्ध. (Society for Integrated Development of Himalaya, SIDH). लेंडर कैंट. मसरी-248179

हम जानते हैं। पूरा गांधी वांगमय हिन्दी और अँग्रेजी में धरमपाल जी के कहने पर खरीदा गया और फिर बीच-बीच से, खासकर 1916 और 1928-30 के भाषणों और लेखों, पत्रों को पढ़ना शुरू हुआ। इस बीच धरमपाल जी सुझाव भी देते रहते थे और उनसे बात-चीत तो होती ही रहती थी। किस्सा लम्बा हो जाएगा पर इतना कहना जरूरी है कि मेरे जीवन के उन 5-7 वर्षों में ही मेरी असली शिक्षा हई—सिलसिलेवार ढंग से नहीं, पर उसका असर गहरा हुआ।

आधुनिक शिक्षा में से निकले हम जैसे लोगों की समझ अक्सर टुकड़ों-टुकड़ों में होती है, जिनके बीच यदि विरोधाभास होता है, तो उसका पता भी हमे अक्सर नहीं होता। और अधिकतर समझ ऐसी जानकारियों पर आधारित होती है जिसकी गहन पड़ताल हम या तो करते नहीं या करने की औकात ही नहीं होती। इस प्रकार इस समझ का अक्सर कोई पेंदा नहीं होता, आधी-अधूरी सी होती है, जिनमे मान्यताएँ अपना खेल खेलती रहती हैं और हमे उनका एहसास भी नहीं होता। उन कुछ वर्षों में भारतीय स्वभाव, हमारे काम करने, सोचने के तरीके, जीवन दृष्टि, व्यवस्थाएं, इनका अंतरसंबंध, इत्यादि, धीरे धीरे समझ आने लगा और बातें अंदर बैठने लगी, तस्वीर साफ होने लगी कि इस देश और हमारी हालत इतनी बिगड़ी हुई क्यों है। कुल मिलाकर कहूँ तो 'हिन्द स्वजाज' ठीक से समझ आया और एक प्रकार का विश्वास भी पैदा हुआ, उलझने एक स्तर पर कम हुई। कम से कम इस बात की स्पष्टता तो हुई कि आखिर मामला क्या है, क्यो यह देश इतना उलझा हुआ है, टूटन के कारण क्या हैं। लोग तरन्त समाधान चाहते हैं पर बीमारी की जड पकडे बिना इलाज कैसे संभव है।

इसी दौरान पहली बार धरमपाल जी से ही रवीन्द्र शर्मा, 'गुरु जी' का नाम सुना। उन्होने यह भी सुझाया कि कभी उनसे मिलना चाहिए। मैंने सोचा कोई कलाकार होंगे जो दिल्ली, बम्बई के कलाकारों जैसे तो जरूर नहीं होंगे, दोगले चरित्र वाले तो नहीं होंगे, स्थानीय समाज के साथ काम करते हैं, वहीं रहते हैं तो एक प्रकार की ईमानदारी तो जरूर होगी। पर क्योंकि कला के क्षेत्र में अपनी कोई खास समझ है नहीं, इसलिए मैंने उस समय कोई प्रयास नहीं किया। पर अपना अनुभव यह भी था कि धरमपाल जी इस तरह का सुझाव यूँ ही तो नहीं देते हालांकि उनका सुझाने का तरीका बड़ा चलताऊ किस्म का भले ही होता हो। एक बार जयपुर जब गया था तो उन्होंने सुझाया था कि "वहाँ जा रहे हो तो दयाकृष्ण जी से मिल लेना, अच्छी 'जिन' पिलाएगा।" और प्रोफेसर दयाकृष्ण के साथ बीते वे एक दो घंटे यादगार बन कर रह गए। हाँ उन्होंने 'जिन' भी पीने का आग्रह किया जो उस दिन तबीयत न होने की वजह से मैंने नहीं पीया उसके बावजूद उनसे मिलना और बात-चीत करना मेरी एक उपलब्धि रही। इसलिए मैं जानता था कि वे ऐसे ही नहीं कहते थे. तरीका चाहे कैसा भी हो।

मेरे एक दोस्त, प्रोफेसर जैन, जो दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते हैं बताते हैं कि जब वो पहली बार धरमपाल जी से मिले और दो चार घंटे उनसे बात होने के बाद उनकी मान्यताएँ इतनी हिल गईं कि उसके बाद पहला काम उन्होंने यह किया कि सिगरेट की दुकान पर जा कर एक सिगरेट पीए जो वो एक अरसे से छोड़ चुके थे। मैं इस मनःस्थिति को समझ सका और ठीक ऐसी ही हालत मेरी रवीन्द्र शर्मा जी को जब पहली बार सुना और देखा तब हुई। सोचने लगा - हम कहाँ खड़े हैं। क्या बाते करते रहते हैं। रवीन्द्र शर्मा न गांधी की बात करते हैं, न धरमपाल की। महात्मा गांधी की कल्पना का समाज, 'हिन्द स्वराज' के 'सच्ची सभ्यता कौन-सी' में जैसा वो कहते हैं वे बाते अच्छी लगती थी, सही भी लगती थी पर सवाल उठता था कि क्या कभी ऐसा रहा होगा। क्या ऐसा संभव है। गांधी जी कहीं हौसला अफजाही तो नहीं कर रहे, कोई 'थ्योराइज' तो नहीं कर रहे। पर रवीन्द्र शर्मा को सुन कर - उनके अपने अनुभव, जो उन्होने देखा और सबसे बड़ी बात इन सब के बीच के सम्बन्धों को, समाज मे जो प्रथाएँ रहीं हैं अपने जीने की, उसके ताने बाने समझ में आने लगते हैं—गांधी जी भी और सहज रूप से ग्राह्य होने लगते हैं। सभ्यता की जो बात गांधी करते हैं उसका जीवन्त स्वरूप आँखों के सामने उभरने लगता है। आधुनिकता की विकृतियाँ ही नहीं, गांधी जी के शब्दों मे यह 'शैतानी' है, इसकी साफ समझ बनती है। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्थाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच के महत्वपूर्ण भेद, उनके बीच - स्वभावगत कहें या सभ्यतागत - भेद, धरमपाल का 'भारतीय स्वभाव' से क्या तात्पर्य होगा यह भी साफ होने लगता है। धरमपाल जी का संभवतः सबसे महत्वपूर्ण लेख 'भारतीय चित्त, मानस और काल' है। इसके मर्त स्वरूप का आभास तो रवीन्द्र शर्मा जी को सुनकर ही होता है।

रवीन्द्र शर्मा अपने को पढ़ा-लिखा नहीं मानते। वे दार्शनिक भी नहीं हैं। पर उन्हे मात्र कलाकार-कारीगर भी कहना ठीक नहीं होगा। वे महज कथाकार भी नहीं, कोई पंडित या बुद्धिजीवी भी नहीं हैं। वे अगर कुछ हैं, जिसे कहने पर उन्हे आपत्ति भी नहीं होगी, तो वो सहज हैं। मैंने ऐसी सहजता किसी औरों में, बड़े आध्यात्मिक गुरुओं में भी, नहीं देखी—आज तक। जो देखा समझा है, उसे मस्ती में दूसरों के साथ बांटते हैं। मौखिक परम्परा के आदमी हैं। शायद ही कभी कलम कागज का इस्तेमाल वो करते हों। वे कहते हैं कि उन्होंने किताबे नहीं पढ़ी हैं पर बातों बातों में कई बार कुछ किताबों का जिक्र वे कर देते हैं और वे अक्सर विलक्षण होती हैं. जैसे 40 के दशक में छपी कृष्ण सिंह चावडा के संस्मरण 'अंधेरी रात के तारे'।

सहजता बड़ी चीज होती है। वही व्यक्ति सहज हो सकता है जिसमे भरपूर अस्मिता और आत्मविश्वास तो हो, पर अहंकार नहीं। जो औरों की बात ध्यान से सुनने की कूवत रखता हो, उनसे समझने के लिए दिमाग खुला भी रहता हो, पर फिर भी दसरों से प्रभावित नहीं होता। जो हर अवस्था में एक जैसा रहता है साथ ही स्थिति

परिस्थिति को ध्यान में रख कर दूसरों को सम्मान देना जानता है, जो दिखावा नहीं करता पर शालीनता क्या होती है इसकी गहरी समझ रखता है। अपनी बात जम कर कहता है पर अड़ता नहीं, विवाद नहीं करता। जो देना और लेना दोनों जानता है — सहज भाव से। हममे से बहुतेरे या तो सिर्फ देना जानते हैं या लेना। जिसमे सौंदर्य बोध कूट कूट कर भरा है। जो पैनी नजर रखता है और 'देखना' जानता है। उनके अन्दर साधारण और साधारण व्यक्ति के प्रति गहरा सम्मान है, जो उनके अनुभव से निकला है। बहुत सारे दर्शन और उनके मानने वाले सरल व्यवहार, साधारण और सहजता की बात तो करते हैं पर व्यवहार में यह, सिर्फ कपड़ों तक या इस्तेमाल आने वाली चीजों तक सिमट कर रह जाता है। उनकी विनम्रता भी दिखावे वाली ज्यादा होती है। रवीद्र शर्मा की सहजता यह सब लिए हुए है, दिखावा नहीं है, सचमुच है। अब तो उन्हें देख कर सुन कर लगता है कि सहजता. व्यक्ति के लिए भी और समाज के लिए भी, सबसे बड़ा मूल्य है।

आज की दुनिया में हर एक अपनी पहचान खोजने बनाने में लगा है। पढ़ाई-लिखाई का अर्थ ही पहचान (आइडेंटिटी) बनाना हो गया है। इसमे साधारण की जगह सिमटती जा रही है। मैंने अपने देश में स्कूलों में अच्छे प्रयोग जहां-जहां हो रहे है उनमे से कई प्रयोग देखे हैं, वहाँ के लोगो से बाते की हैं और समझने का प्रयास किया है। इन अच्छे प्रयोगों में वे होड़, प्रतियोगिता, एक दूसरे से तुलना इत्यादि को ठीक नहीं मानते और इससे दूर रहने का, ईमानदारी से प्रयास भी करते हैं, पर यहाँ भी पहचान से छुटकारा नहीं है। एक अच्छा इंसान बने इसकी चेष्टा तो वो करते दिखाई पड़ते हैं। सहजता के लिए भी प्रयास होता है कुछ हद तक पर ऐसा लगता है वहाँ भी 'साधारण' की समझ की कमी है। रविन्द्र शर्मा जिस सहजता की बात करते हैं वहाँ साधारण ही श्रेष्ठ है, साधारण और सहजता के बीच एक अटूट संबंध है वहाँ।

हमारे यहाँ अंग्रेजी और पश्चिमी मान्यताओं ने हमारे सोचने और समझने को एक खास प्रकार से नियंत्रित कर रखा है। शब्दों में बड़ी ताकत होती है। अगर शब्दों से चिपकी मान्यताओं को ठीक से नहीं पहचानते तो वे मान्यताएँ अनजाने ही हमे संचालित करने लगती हैं। इसलिए बहुदा अनुवाद खतरनाक होते हैं। उदाहरण के लिए हम आम तौर पर संस्कृति शब्द का अनुवाद अंग्रेजी में 'कल्चर' से करते है। पर जिसे वे 'कल्चर' कहते हैं उसमे तो 'कल्चर ऑफ वॉर' भी होता है जिसे हम संस्कृति नहीं, विकृति कहेंगे। पर यदि हम कल्चर शब्द को संस्कृति का पर्याय मानने लगते हैं तो धीरे-धीरे हमारे दिमाग में 'कल्चर' की मान्यता, हावी होने लगती हैं और संस्कृति के मायने विलुप्त होने लगते हैं। ऐसा ही एक शब्द 'विकास' है। इस प्रकार हमारे दिमाग में हमारे सोचने समझने के तरीके दूसरों की बनाई 'कटेगरीज' (मान्यताओं) से संचालित होने लगते हैं. हम अपनी 'कटेगरीज' को भलने लगते है और फिर अपने

संसार को भी हम दसरों की नजरों से देखने लगते हैं और यह सब अनजाने ही होने लगता है।

यह सारी बाते तो धरमपाल जी के साथ समय बिताने पर समझ आने लगी थी पर अपनी 'कटेगरीज' क्या होती हैं, इसकी समझ तो रवीन्द्र जी के संसर्ग में आ कर ही मिली। भारतीय समाज व्यवस्थाएं कैसी होती थी और जहां-जहां 'विकास' ने अपने पाँव नहीं जमाये हैं, आज भी हैं, कुछ हद तक, इनका पता तो 'गुरुजी' की बातें सुनकर ही लगा। समाज के ताने-बाने क्या थे, यहाँ की अर्थव्यवस्था किस तरह अन्य सरोकारों से गुँथी हुई थी। महात्मा गांधी छोटी मशीनों की बात करते है पर जब रवीन्द्र जी कहते हैं, 'समाज छोटी मशीनों को संचालित करता है, बड़ी मशीने समाज को संचालित करती हैं' या फिर 'छोटी तकनीक को समाज व्यवस्थित करता है और बड़ी तकनीक समाज को व्यवस्थित करती है', तो महात्मा गांधी की बातें ज्यादा स्पष्ट होने लगती हैं। किस प्रकार हमारे समाज स्वावलंबी हुआ करते थे। कैसे कारीगर और कलाकार में कोई भेद नहीं हुआ करता था और ऐसी व्यवस्था क्यों रखी गई थी। 'गुरुजी' कहते हैं गाँव उसे कहते हैं जहाँ सभी के भोजन की सुरक्षा या सुनिश्चितता हुआ करती है और सभी के सम्मान की व्यवस्था हुआ करती है—तो महात्मा के 'सपनों का भारत' की याद आती है और याद आती है उनके म्योर कालेज, इलाहाबाद में दिये भाषण की जब उन्होंने कहा था किसी भी सुव्यवस्थित समाज में किसी को भोजन की चिंता नहीं हुआ करती, कल की चिंता नहीं हुआ करती।

गुरुजी डिजाइन के आदमी हैं। वे डिजाइन की बारीकिया समझते हैं कि किस प्रकार डिजाइन मनुष्य के व्यवहार के तरीके को प्रभावित करते हैं। व्यवस्था भी तो एक प्रकार के डिजाइन ही होती है। गुरुजी जब इन विषयों पर बात करते हैं तो चीजे जो, जहन में तो थीं, पर आपस में जुड़ी नहीं थी, खंड-खंड मे अलग थलग पड़ी थी, जुड़ने लगती हैं, इन विचारों की गहराइयों का पता चलता है। विचार, विचार से ऊपर उठकर अनुभव तक पहुँचने लगता है। सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के भेद को और उससे जुड़ी हुई अर्थव्यवस्था, सौंदर्य दृष्टि और दर्शन की जब वे बात रखते हैं तो भारत की विविधता और एकता दोनों समझ आने लगती हैं। कोई पूछे की गुरुजी की बातों से किसी को क्या मिलता है तो आजकल मैं यह कहने लगा हँ कि उनकी बातें स्मति जागरण का काम करती हैं।

गुरुजी को देश भर में 5-10 हजार लोग ही जानते होंगे। सीधे आदमी है, बरसों तो वे पतलून पहनने वालों से मिलते ही नहीं थे, अंग्रेजी बोलते नहीं, धोती पहनते हैं, लिखते हैं नहीं, बड़े शहर में रहते नहीं — वे सब उनके पास नहीं जो आजकल चर्चित होने के लिए जरूरी सा हो गया है। पर देश के लिए जो सही मायने में चिंतित हैं उन्हें गरुजी के पास कछ समय लगाने की जरूरत है। खास कर 'विकल्प' और 'सभ्यता'

की बात करने वालों को। मेरा सौभाग्य था कि मैं उनसे मिल सका और वह भी उस समय जब मुझमे उनसे मिलने की औकात पैदा हो चुकी थी, धरमपाल और महात्मा की वजह से, नहीं तो शायद उनको सुन कर सिर्फ मजा आ कर रह जाता, बात उससे आगे नहीं बढ़ती। और एक बड़ा फायदा यह हुआ कि साधारण और सहजता कितनी बड़ी चीजे हैं यह समझ आया और आराम मिला। खत्म करने से पहले एक चेतावनी। हमारा पढ़ा-लिखा वर्ग महत्वपूर्ण सवालों को विपरीत कटघरों में देखने के आदि हो गये हैं। आधुनिकता के रंग में डूबे हुए, इस प्रकार की बाते, जो गुरुजी करते हैं, उन्हें ऊपर ऊपर से सुनकर आरएसएस या हिन्दत्व के कटघरे में रखने की भल कर सकता है। पर यह भल ही होगी।

आलेख

महाभारत : यद्ध विरोधी काव्य

प्रभाकर श्रोत्रिय*

महाभारत के संक्षेपकारों ने उसे प्रायः युद्ध-कथा के रूप में सीमित कर दिया है, जबकि केन्द्र में होते हुए भी वह जिन जीवनार्थी को व्यंजित करता है वे युद्ध विरोधी अथवा युद्धांतक हैं। महाभारत के इतने वैविध्यपूर्ण फलक को देखकर बड़े-बड़े पारखियों ने माना है कि उसमें एक रस का परिपाक नहीं है, अनेक रस-भाव वहाँ अपनी सम्रगता में हिलोरें ले रहे हैं। कई आचार्य मृत्यु का इतना बड़ा व्यापार देखकर इसे करुण रस का काव्य मानते हैं, परंतु ध्वनयालोककार आनंदवर्धन और शांतरस समर्थक अनेक आचार्य महाभारत का केन्द्रीय रस 'शांत' मानते हैं। आचार्यों का कहना है कि तत्त्वज्ञान तथा वैराग्य के कारण शांतरस उत्पन्न होता है। 'शम' का अर्थ 'तष्णा क्षय' है।

महाभारत में कौरव-पांडव, दोनों के मूल धृतराष्ट्र-गांधारी और कुंती, वैराग्य धारण कर वन को चले जाते हैं और वहा की आग में अपनेआप को झोंक देते हैं। युद्ध से बचे पांडव और द्रौपदी हिमालय पर्वत पर तत्त्वज्ञान और वैराग्य के निमित्त आरोहण करते हैं। सबमें 'तृष्णा क्षय' स्पष्ट है।

यहाँ केवल परिणति का उल्लेख है, परंतु यदि महाभारत के संपूर्ण आख्यान, उसके भीतर-बाहर फैले अनेक उपाख्यानों का कुल प्रभाव देखें तो उसके भीतर कहीं 'शम' अंतःरचित है। महाभारत नायक 'युधिष्ठिर' जीवन के समस्त उपक्रमों, सभी भावों को संचारियों की तरह लेते हैं, उनके भीतर शांत रस अदृश्य रूप से प्रवाहित है। कई बार हमें युधिष्ठर के क्रिया-कलापों, उनके धैर्य, सहनशीलता, संतोष और अंततः युद्धांत के बाद प्राप्त साम्राज्य से बार-बार भागते देखकर उसे स्वीकारने में उनकी हिचक को देखकर, द्रौपदी या भीम की तरह क्रोध और झुंझलाहट होती है। परंतु रचनाकार ने उनकी रचना ही किसी अंतर्निहित तत्त्वान्वेषण. शम. धैर्य के लिए की है

* प्रभाकर श्रोत्रीय. ए-601. जनसत्ता अपार्टमेंट. वसंधरा सेक्टर-9. गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)

जो सामान्य जीवनानुभव से अलग है। कवि दिखाते हैं कि 'यक्ष' के प्रश्नों का उत्तर न देकर आक्रोश और हठधर्मी से पांडवों का निधन हो जाता है, परंतु भइयों को मृत देखकर भी, बिना किसी आवेश के युधिष्ठिर यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और किसी एक भाई के जीवन-विकल्प के समय भी न्याय और विवेक नहीं खोते।

वे धर्मपुत्र हैं और जैसा कि उपनिषद कहते हैं कि 'सत्य' ही 'धर्म' है; कवि ने युधिष्ठिर को सत्य का पर्याय बनाया है। यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि इस विराट कथा की ऊहापोह के बीच युधिष्ठिर के लौकिक चरित्र में कितनी विपरीतता, विसंगति देखी गई, क्योंकि व्यक्ति या वस्तु का निर्धारण उसकी समग्रता या समन्वित प्रभाव से होता है और कई बार उसकी प्रतीकवत्ता के अंतर्हित मूल्यों से भी।

सांसारिक व्यापार के बीच 'युद्ध' एक अनवरत नियति की तरह है। उसकी आँच से कौन व्यक्ति बच पाता है? युद्धांत के बाद, युद्ध की आग में झुलसी और पूरी तरह क्षत-विक्षत गांधारी और द्रौपदी युद्धभूमि में आती हैं। दोनों दो युद्धरत पक्षों की केन्द्रीय नारियाँ हैं, जिनकी युद्ध में कहीं-न-कहीं केन्द्रीय भूमिका रही है। परंतु इस समय दोनों आहत हैं। गांधारी सास है और द्रौपदी बह। इसलिए यदि सांत्वना देने का जिम्मा है तो गांधारी का। परंतु गांधारी कहती है।

"यथैवत्वं तथैवाह कौवाआश्वास यिष्यति" (स्त्री पर्व)

"जैसी तुम हो, वैसी मैं हूँ। कौन किसे आश्वासन दे?" युद्ध की यही नियति है, वह सबको सर्वहारा बना देता है। विजयी को भी, विजित को भी; और क्या कुंती अपने पाँच पुत्रों के जीवित रहने से इस आँच से, इस आह और आहति से बच पाई है? उसने भी तो अपना सबसे बड़ा बेटा 'कर्ण' खो दिया है।

युद्ध को इन तमाम स्थितियों तक पहुँचा कर व्यास वीर रस का परिपाक करना चाहते थे या 'शांत' का? वे यद्ध की ज्वाला जलाए रखना चाह रहे थे या उस पर जल-वर्षा कर रहे थे?

आचार्य आनंदवर्धन ने कृष्ण को महाभारत का नायक माना है, परंतु कृष्ण उसकी अंतःसंचालि शक्ति हैं। इसीलिए कई परवर्ती कथाकारों ने उन्हें अदृश्य दिखाया है, वे हर जगह महसूस होते हैं, पर कहीं हैं नहीं। महाभारत में कृष्ण के सर्वोपरि महत्व से कौन इनकार करेगा, परंतु उन्हें 'नायक' मानकर तो हम उनका महत्व ही घटाएँगे। वे परात्पर हैं, वे किंग मेकर हैं—किंग उनका साधन है। नायक हैं युधिष्ठर—पूरे आख्यान विधान में भी, परिणति में भी और 'शांतरस' के परिपाक में भी।

बुद्धदेव बसु ने 'महाभारतेर कथा' में युधिष्ठर को ही नायक माना है और अपनी पुस्तक का अधिकांश हिस्सा इसी स्थापना को पढ़कर युद्धोत्साह नहीं जगाता; एक विषाद ओर निस्तरंग निवृत्ति मन में जन्म लेतीहै। युद्धसे वितृष्णा होती है। लेखक ने युद्ध को एक दूसरे धरातल पर 'ऐरिक-युद्ध' के अंतिम विनाश तक पहुँचाया है. और कृष्ण का निधन! यद्ध से बनी मनोवत्ति की चरमतम परिणति नहीं है?

व्यास महाआख्यान नहीं रचते, जीवन रचते हैं। इसलिए वे अपने पात्रों की तरह अपने नायक को भी तरह-तरह की विसंगत और विडंबनापूर्ण स्थितियों के बीच खींच लाते हैं और वह बार-बार उससे भागता है। युधिष्ठर का दुचित्तापन उसकी वह छटपटाहट है जो अंततः उसके लिए इससे मुक्ति की भूमिका बनती है।

महाभारत कहता है—*'यतोधर्मस्ततोजयः'* युधिष्ठर ही तो धर्म है, युद्ध भले ही कृष्ण—अर्जुन, भीम ने जीता हो, विजय 'धर्मपक्ष' की हुई। सही अर्थ में युधिष्ठर न विजय में शामिल थे न विजयोपभोग में। वे सिर्फ़ माध्यम थे, प्रतीक थे और आज की भाषा में पाण्डव पक्ष का मुखौटा थे। 'पराजित पक्ष' न केवल युद्ध में पराजित हुआ, वह पहले से पराजित था क्योंकि उसका उद्गम धृतराष्ट्र था—सिर्फ बाहर से अंधा नहीं, भीतर से भी अंधा। व्यास ने संजय को दिव्य दृष्टि दी जिसने उसे विनाश 'प्रत्यक्ष' दिखाया और हर क़दम पर उसे चेताया भी; पर अंत तक वह वैसा ही बना रहा। इसके पहले भी व्यास ने स्वयं कृष्ण को दूत बनाकर भेजा, समझौते की पराकाष्ठा पर भी युद्ध प्रारंभ न करने की सारी दलीलें दीं, पर उसकी भीतर की आँख, बाहर का ही अनुसरण करती रहीं। ये सारे उपक्रम वीररस की सष्टि के नहीं. उसे शांत में पर्यवसित करने के थे।

कवि ने आखिर युद्ध-कथा क्यों उठाई? क्योंकि सृष्टि में युद्ध सनातन है। इस सत्य को सभी महाकाव्यों ने अनुभव किया है। इसीलिए संसार के सभी आदि महाकाव्यों की कथावस्तु 'युद्ध' है। वह चाहे इलियड़, ओडेसी हो या शाहनामा। यह ठीक है कि सभी का अंत ईमान और न्याय की स्थापना है, परंतु वे मूलतः भौतिक प्रयोजन तक दुर्लभ है। यही कारण है कि उसका प्रभाव भी अन्य महाकाव्यों से विरल है। यद्ध उनकी सीमा है, जबकि महाभारत के लिए युद्ध एक माध्यम है।

यदि विश्व महाभारत से सीख लेता तो आज पर्यंत विश्व-युद्ध नहीं हो और आशांकित स्टार-वार का संकट विश्व पर न मँडराता। पर यह सब हो रहा है। आज विश्व में अन्न के भंडार से अधिक शस्त्र के भंडार हैं—वह एक-से-एक विनाशक शस्त्रास्त्रों से लैस हैं। क्या व्यास ने ग़लत कहा था—"मैं दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ, पर मेरी कोई सुनता नहीं है कि धर्म से सबकुछ प्राप्त होता है—अर्थ, काम, मोक्ष... सब।" और यहधर्म है मानव-कल्याण। संघर्ष और युद्धों से यही खतरे में है। महाभारत इस दृष्टि से युद्ध के माध्यम से अयुद्ध का संदेश है। क्योंकि युद्ध और फिर अंधे युद्ध केवल विनाश की इबारत लिख सकते हैं; 'शस्त्र संतानें' ही पैदा कर सकते हैं, जो सृजनात्मक विश्व को मान्य नहीं है। युद्ध की शांति की ओर जाने के लिए प्रयासरत विश्व की प्रकृति ही ध्वंश के कगार से उसे बार-बार लौटाती रही है।

जब विंटरनिट्ज़, ओल्डेन बर्ग, हापकिंस जैसे पश्चिमी विद्वान होमर के 'इलियड' के संदर्भ में महाभारत में बिखराव पाते हैं, वहाँ वे भूल जाते हैं कि महाभारत की तह 'युद्ध' की एकल रौद्र कथा नहीं, शांत रस का प्रतिमान हैं, जिसकी स्थापना जीवन के नाना द्वंद्वों और विस्तारों के बीच ही हो सकती है। शांत रस से पोर-पोर गज़रना और

परिपाक तक पहुँचना निस्तरंग शम की निरंतरता नहीं, घात-प्रतिघात, विचारों के व्यूह को बेधने और धर्मा-धर्म, नीति-अनीति आदि के विवेक से संभव हुआ है। यह व्यापक सृष्टि की कथित अविरल शांति नहीं, बल्कि व्याकलता की अनथक यात्रा है। लेखक की 'समाधि भाषा' इसी से तो 'रस' बनती है।

इसीलिए बार-बार यही कहना होगा कि संसार के युद्ध काव्यों से भिन्न महाभारत युद्ध का, वीर, रौद्र और वेदना का खाका मात्र नहीं है, वह दार्शनिक, नैतिक और पचीसों सामाजिक-मानवीय प्रश्नों का व्यूह है। वह इन सबके बीच अपनी पूरी शक्ति से युद्ध का प्रतिवाद करता है—और वीभत्स निषेध से नहीं परी तार्किक और भावानात्मक योजना से।

आखिर युधिष्ठर ने अपने को दिया हुआ एक बंजर धरती का टुकड़ा क्यों स्वीकार कर लिया? बार-बार कौरवों को संतुष्ट करने की पहल क्यों की?—जुए के घृणित व्यापार से असहमत होकर भी उसमें क्यों शामिल हुए? अपने सबसे पूज्य और कुशलतम व्यक्तित्व को छोटे से दूत-कर्म में, छोटी सी मांग लेकर क्यों झोंक दिया? वन में प्रवास की लंबी त्रासदी को अपनी पूरी निष्ठा से, सारे जोखिम और विसंगतियों सहित क्यों पूरा किया? ये युद्ध और युद्ध निषेध के बीच ऐसे सर्जनात्मक-सकारात्मक बिंदु हैं जो युद्धांत के लिए पर्याप्त से अधिक है। महाभारत एक उपदेश कथा नहीं हैं, एक पौराणिक प्रवचन नहीं है, वह काव्य है जिसमें अनेक नाटकीय उच्चावच, दर्शन, परिवेश और तमाम ज्ञात-अज्ञात प्रतीतियों से टकराता, हिचकोले खाता बहुविधि सृष्टि रूप है। एक युद्ध आखिर पूरे नकारात्मक प्रयासों की विफलता से भले घटित हो गया हो किंतु लेखक भविष्य के लिए उन द्वारों को खोल देता है जिससे मनुष्य बार-बार इन दारुण अनुभवों से बचने का उपाय पा सके, युद्ध की पुनरावृत्ति न हो।

युद्ध क्या-क्या कर सकता है—तमाम महान सभ्यताओं का अंत,9 संस्कृतियों का खात्मा, सारे मूल्यों का ध्वंस, एक अंधे और पागल संसार की सृष्टि। अश्वत्थामा जैसी घायल, बेचैन भटकती आत्मा को अंत में, अनन्त के लिए क्यों छोड़ा गया है? महाभारत युद्ध के ऐसे प्रतीक के रूप में भावी पीढ़ियों को युद्ध का मतलब समझा सके। शम और शांत का इतनी दूर तक पीछा व्यास जैसा कवि ही कर सकता है इसे आप बिखराव कहकर क्या हासिल करेंगे?

महाभारत का अंतर्हित दर्शन और तत्वज्ञान, शम, वैराग्य हमें शांत चित्त से मानवता के भविष्य के बारे में चिंतन करने और इस उपभोक्तावादी समय में एक सर्वसमावेशी नैतिकता और सहकारिता बनाए रखने में सहायता कर सकता है। इसकी व्यापक विश्वदृष्टि, नैतिक बोध ने ही हमें ऐसे जीवन और साहित्य की विरासत दी है जो घने अंधकार में भी प्रकाश दे सके। डॉ. रामविलाश शर्मा वाल्मीकि और व्यास के अवदान के बारे में ठीक कहते हैं:—

"किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भमिका नही रहीं. जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है।"

धारा 370—बहस के मद्दे

शंकर शरण*

नेशनल कांफ्रेंस द्वारा धारा 370 पर बहस की चुनौती देना वास्तव में बहस न चलाने की चेतावनी या धमकी है। यह भी संभव है कि यह लोगों को दिखाने की भाषा हो, जबकि चुपचाप वह देश की बड़ी राष्ट्रीय पार्टियों के नेताओं से अनुरोध करके इस बिन्दु को उठाने से रोकने में सफल होती रही हो। यह अनुमान निराधार नहीं क्योंकि नेशनल कांफ्रेंस केंद्रीय सत्ताधारी दल से सदैव मेल रखती है, और इस के बदले उसे कुछ मिलता है। आखिर क्या कारण है कि 1998 से 2004 के बीच भाजपा ने केंद्र सरकार पर नियंत्रण होने के बावजूद कभी भी कश्मीर और जम्म के मद्दों पर वह कछ नहीं किया जो उसकी लंबी माँग रही थी।

यह एक तथ्य है कि धारा 370 पर बहस के मामले में नेशनल कांफ्रेंस, और हर कश्मीरी मुस्लिम के तर्क बिलकुल कमजोर हैं। इसीलिए इस मुद्दे पर उन की भाषा में गर्मी और धमकी के तेवर ही मुख्य रहते हैं। इसीलिए, उन के द्वारा दी गई सार्वजनिक चुनौती एक पब्लिक-पोस्चरिंग है. जिस में तथ्यों. तर्कों के बजाए अंदाज और मनोबल का खेल चलता है।

उन के तर्क कमजोर का मतलब यह कि धारा 370 पर संजीदा बहस दो ही आधार पर हो सकती है—कानूनी-ऐतिहासिक या उपयोगिता। दोनों ही में उस के पक्ष में कहने के लिए कुछ नहीं। इसीलिए, नेशनल कांफ्रेंस कोई ठोस तर्क या तथ्य देने के बदले लफ्फाजी का सहारा लेती है। पिछले जून भी नेशनल कांफ्रेंस के उसी वरिष्ठ नेता ने धारा 370 को हटाने की बात पर 'खून की नदी', 'लाश पर गुजरने' जैसी भड़काऊ शब्दावली का प्रयोग किया था। यह कोई बहस की भाषा नहीं, धमकी है। कुछ वही ब्लफ खेल वाला अंदाज कि 'सोच लो. बच्च...'। ताकि प्रतिपक्षी खिलाडी अधिक नकसान के भय से खेल से उठ जाए।

* 44ए एन.सी.ई.आर.टी. आवास. श्रीअरविन्दो मार्ग. नई दिल्ली 110 016

अन्यथा, अदालतों में अच्छे वकील एक-दूसरे के विरुद्ध बहस करते हैं। अकादमिक पत्रिका में किसी विषय पर विरोधी विद्वान बहस करते हैं। टीवी चैनेल पर किसी मुद्दे पर विशेषज्ञ बहस करते हैं। राजनीतिक उदाहरण लें, तो अमेरिकी चुनाव में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार आमने-सामने बहस करते हैं। मगर कहीं भी 'लाश बिछने' की धमकी का तर्क तो नहीं दिया जाता! कि यदि हमारी नहीं चली तो हम ये करेंगे। इसीलिए, नेशनल कांफ्रेस द्वारा धारा 370 पर बहस की चनौती का आशय बौद्धिक से ज्यादा राजनीतिक है।

इसे ऐतिहासिक-कानूनी और उपयोगिता, दोनों ही पहलुओं से देखने के लिए किसी गूढ़ अध्ययन की जरूरत नहीं। पहले तो, धारा का नाम ही 'अस्थाई' है, जिस पर कहना कि 'कभी नहीं हटाया जा सकता' अपने-आप में कमजोर कथन है। कुछ वैसे ही, जैसे कोई कहे कि 'हाँ, यह चीज मैंने उधार ली थी. पर वापस नहीं करूँगा।' ऐसा कहना बहस नहीं, जबरदस्ती है।

दरअसल, दिसंबर 1947 में जब यह धारा तब यह '306 ए' थी बनी थी, तो समझा गया था कि यह बमुश्किल कुछ सप्ताह या महीनों के लिए है। उद्देश्य संक्षिप्त था कि दो महीने पहले हुए जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय के अनुरूप तत्काल जरूरी कार्य रोका न जाए। यह समझ थी कि यह धारा तभी तक के लिए है, जब तक जम्मू-कश्मीर की विधायिका बनकर एकीकरण की अन्य औपचारिकता परी नहीं कर लेती।

अतएव, सबसे पहले तो यह साफ रहे कि वह धारा जम्मू-कश्मीर के लिए कोई विशेष दर्जा था ही नहीं! इस निर्विवाद कानून-ऐतिहासिक तथ्य के लिए सभी दस्तावेज, गवाहियाँ, संस्मरण, मिनट्स मौजूद हैं। उस के संदर्भ में समय के साथ हुई सारी गड़बड़ी किसी के धोखे. किसी के भोलेपन. अदरदर्शिता और दर्बलता का परिणाम है।

गड़बड़ी वहाँ से शुरू हुई कि इस धारा का प्रारूप नेहरूजी ने शेख अब्दुल्ला के साथ निजी तौर पर बनवाया, और गृह मंत्री सरदार पटेल को बताया भी नहीं। नेहरू के लिए यह कार्य निर्विभागीय मंत्री गोपालस्वामी आयंगर देख रहे थे। जब इन बातों की अस्पष्ट सूचना पटेल को मिली तो उन्होंने आपत्ति की। तब नेहरू ने 23 दिसंबर 1947 को तैश में पटेल को एक पत्र लिखा, कि नेहरू के आदेश से ही आयंगर, जो जम्मू-कश्मीर मामले के अनुभवी हैं, स्वतंत्रता से काम कर रहे हैं। इसलिए पटेल की आपत्ति अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगी आयंगर के साथ अनुचित व्यवहार है। पत्र पाते ही उसी दिन, उसी क्षण, पटेल ने नेहरू को अपना इस्तीफा भेज दिया। तब मामला महात्मा गाँधी के पास पहुँचा। उनके आग्रह से पटेल सरकार में बने रहे. और जम्म-कश्मीर मामले को परी तरह नेहरू पर छोड दिया।

तब से उस विषय में नेहरू-अब्दुल्ला-आयंगर ही सब कुछ तय करते रहे। जब वह धारा स्वीकृति के लिए कांग्रेस समिति के पास पहुँची (अक्तूबर 1949) तो सबने तीखा विरोध किया। यह कहते हुए कि जो विधि अन्य राज्यों के लिए अपनाई गई, उस से भिन्न क्यों किया जा रहा है। यह चर्चा जब शुरू हुई, नेहरू विदेश चले गए थे। आयंगर की पूरी फजीहत हुई। वस्तुतः नेहरू द्वारा अंतिम प्रारूप तैयार करवा कर विदेश जाने के बाद अब्दुल्ला ने पुनः उसमें कुछ जोड़-तोड़ करवाई थी, जो जम्मू-कश्मीर सरकार को कुछ और अधिकार देती थी। इन सब पर कांग्रेस नेताओं ने आयंगर को खूब खरी-खोटी सनाई। तब आयंगर पटेल की शरण पहँचे. कि किसी तरह धारा स्वीकार करवाएं।

यदि 17 अक्तूबर 1949 की उस मीटिंग में नेहरू मौजूद होते, तो क्या होता, अब यह अनुमान ही किया जा सकता है। पर उन की अनुपस्थिति में पटेल ने दायित्व समझा कि उस गड़बड़ धारा से असहमत होते हुए भी उसे पास करवाएं, क्योंकि यह अस्थाई अवधि के लिए ही था। जब पटेल के सचिव एन. शंकर (आई.सी.एस.) ने बाद में पटेल से पूछा कि उन्होंने उस पक्षपाती धारा को क्यों पास करवा दिया, तब पटेल ने कहा कि वह अस्थाई है और अंतर्राष्ट्रीय नजाकतों को देखते हुए पास किया गया (नेहरू जी मामले को संयुक्त-राष्ट्र भी ले जा चुके थे)। पटेल के अनुसार वह धारा कोई बड़ी चीज नहीं। आयंगर, अब्दुल्ला आदि तो कल नहीं रहेंगे, और सब कुछ भविष्य के भारतीय राज्य की सामर्थ्य पर निर्भर करेगा। फिर भी उन्होंने कहा कि इन सब ऊट-पटाँग कामों के लिए 'जवाहरलाल रोयेगा'! इस के कछ महीने बाद ही पटेल का देहांत (15 फरवरी 1950) हो गया।

हालाँकि, अब पश्च.दृष्टि की सुविधा से कहा जा सकता है कि शेख ने शुरू से ही चतुराई बरतते हुए नेहरू का उपयोग कर, धारा में गोल-मटोल शब्दावली डाली, और धीरे-धीरे उस में बदलाव भी करवाया। ताकि बाद में उन का कुछ का कुछ अर्थ करके अपने लिए आजादी रखी जाए या जहाँ तक संभव हो ताकत बढ़ाई जाए। शेख की नीयत ठीक नहीं थी, यह बाद की घटनाओं से पुष्ट हुआ, जब नेहरू ने शेख को गिरफ्तार करवाया (8 अगस्त 1953)। पटेल का अवलोकन कितना सही साबित हआ कि 'जवाहरलाल रोयेगा'!

पर जब वह अवसर आया, जब शेख अब्दुल्ला ने हीला-हवाला व छल-प्रपंच शुरू किया, जब उस पक्षपात का कुफल दिखना शुरू हुआ, जो नेहरू ने अब्दुल्ला के लिए किया था। जब उजागर हुआ कि जम्मू-कश्मीर के लिए विशेष प्रावधान बनाना और अंतर्राष्ट्रीयकरण करना आदि बड़ी भूल साबित हुई तब नेहरू ने क्षुद्रता दिखाते हुए सब कुछ पटेल के मत्थे डालने की कोशिश की। लोक सभा में उन्होंने झूठा बयान दिया कि 'सरदार पटेल ही जम्म-कश्मीर का सब काम देख रहे थे।' (लोक सभा. 24

जुलाई 1952)। पटेल के अवसान के बाद यह कहना कितनी घटिया राजनीति थी. इसे परी पष्टभूमि में समझा जा सकता है।

इस प्रकार, संविधान में धारा 370 का आना, और समय के साथ उसका विकृत अर्थ किया जाना, नेहरू के भोलेपन और शेख अब्दुल्ला की चतुराई का परिणाम थी। बीतते समय ने दिखाया कि नेहरू में राजनीतिक मामलों में बुनियादी दूरदृष्टि और दृढ़ता भी नहीं है। इसी कारण वे कश्मीर मामले में बार-बार ठगे गए। जो धारा कुछ सप्ताह या महीनों के लिए गढ़ी गई थी, ताकि भारतीय संविधान को जम्मू-कश्मीर में लागू करने में तत्काल रुकावट न रहे, उसे मूल समझ के अनुरूप खत्म करने के बजाए शेख अब्दुल्ला ने अपने लिए वीटो-अधिकार बना लिया। यह नेहरू सरकार की ढिलाई और किंकतर्व्य-विमूढ़ता का भी परिणाम था।

इसीलिए, 1963 में नेहरू ने लोक सभा में आपत्तियों का उत्तर देते हुए आश्वासन दिया कि वह धारा समय के साथ 'घिसते-घिसते खत्म हो जाएगी।' लेकिन उनके उत्तराधिकारी भी बेहतर साबित नहीं हुए। इस प्रकार, 1947-48 में नेहरू की अहमन्यतावादी भूल का खामियाजा आज न केवल जम्मू व लद्दाख, बल्कि पूरा देश भुगत रहा है। आज यह पूरा इतिहास जान-बूझ कर छिपाया जाता है ताकि नेहरू की भयंकर भूलों पर पर्दा पड़ा रहे। इसीलिए यह बुनियादी बात भी आज लोग नहीं जानते कि धारा 370 जम्मू-कश्मीर को कोई विशेष दर्जा देने के रूप में नहीं बनी थी। वह तो एक तरह का अस्थाई 'जुगाड़' भर थी।

जैसे, किसी कार्यक्रम के लिए मैदान में तंबू-कनात आदि ताने जाते हैं कि कार्यक्रम के बाद वह हटा लिए जाएंगे। मगर यदि कोई चतुर भागीदार कार्यक्रम करे ही नहीं, तंबू-कनात समेत मैदान में जम जाए और दावा करे कि यह तंबू और मैदान सब स्थाई रूप से उसे दे दिए गए हैं। कुछ इसी तरह की चतुराई शेख अब्दुल्ला ने धारा 370 पर की। सरदार पटेल के न रहने, नेहरू द्वारा अपनी गलती छिपाने के लिए तथ्यों को चुपचाप दबाने, तथा राजनीतिक मंच से पुराने नेताओं, अधिकारियों के हटने और नए अनजान लोगों के आ जाने आदि कारणों से शेख अब्दुल्ला को सुविधा हो गई कि वह कुछ भी तर्क-कुतर्क करते हुए उस धारा का मतलब बदलते जाएं. और उसे अपना स्थाई विशेषाधिकार बना लें।

अब पीछे देख कर कहा जा सकता है कि जैसे लॉर्ड माउंटबेटन ने अपने उद्देश्यों के लिए नेहरू का उपयोग किया, उसी तरह शेख अब्दुल्ला ने भी। नेहरू की वैचारिक कमजोरियों, कूटनीतिक अज्ञान तथा भावनात्मक दुर्बलता को समझकर शेख ने पहले 1947 में राजा हरिसिंह के बदले स्वयं को 'जम्मू-कश्मीर सरकार' मनवाने के लिए नेहरू को शीशे में उतारा। मगर सत्ता में जमते ही, बात से मुकरते हुए उस अस्थाई काम-काजी धारा को अपने लिए वीटो-अधिकार में बदल लिया. कि बिना जम्म-कश्मीर

सरकार की सहमति से उस राज्य में भारत सरकार कुछ नहीं कर सकती! यह अर्थ उस धारा के लिए कभी नहीं था, जो समय के साथ शक्ति-संतुलन और बुद्धि-संतुलन बदलने से हो गया। नेहरू ने इस मुद्दे को कड़ाई से नहीं सँभाला, क्योंकि उस से यह पूरी तरह जाहिर हो जाता कि सरदार पटेल और राजा हरि सिंह, दोनों को किनारे कर शेख से गुप-चुप करार करके उन्होंने कितनी बड़ी मूर्खता की थी। इसे छिपाने के लिए नेहरू ने मामले को गोल-मोल होने दिया, जिस से देश की अकूत हानि हुई।

यह इतने हाल का इतिहास है कि हर बात स्वयं जाँची-परखी जा सकती है। सबसे पहले, अक्तूबर 1947 में जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय किसी शर्त पर नहीं हुआ था। उस की कोई जरूरत ही नहीं थी! क्योंकि विलय ही उस राज्य पर पाकिस्तानी आक्रमण के कारण हुआ था। अंग्रेजों ने जब भारत को स्वतंत्र करने का निर्णय किया तो यहाँ के राजे-रजवाड़ों को भारत या पाकिस्तान में से एक चुनने का रास्ता दिया गया था। पाकिस्तानी आक्रमण के बाद जम्मू-कश्मीर ने फौरन भारत में मिलने का निवेदन किया। मगर विलय के बाद नेहरू ने उस मामले को स्वयं देखना शुरू किया। जबकि अन्य सभी रियासतों से गृह मंत्री सरदार पटेल सफलतापूर्वक बरत ही रहे थे। मगर नेहरू ने अब्दुल्ला से बात कर कश्मीर अपने हाथ में ले लिया। यह नेहरू की पहली गलती थी। उनकी दसरी गलती मामले को संयक्त राष्ट में ले जाना (दिसंबर 1947) थी।

वस्तुतः, नेहरू राजा हरि सिंह से अधिक शेख अब्दुल्ला को महत्व देते थे। अब्दुल्ला ने इस का लाभ उठाया, जिस का असली मंसूबा जम्मू-कश्मीर को स्वतंत्र देश बना कर खुद शासक होने का था। तत्काल उस की गुंजाइश न थी, क्योंकि ब्रिटिश संसद ने इसका विकल्प नहीं छोड़ा था! अतः समय लेकर कोई कूटनीति खेलने के लिए उन्होंने नेहरू से समय माँगा। पर पाकिस्तान को धैर्य न था। उस के संस्थापक शासक जिन्ना कश्मीर को 'पका हुआ सेब' मानते थे जो उन की झोली में गिरना ही था। लिहाजा उन्होंने अधीर हो कश्मीर पर हमला कर दखल शुरू कर दिया। इस आपात-स्थिति में महाराजा हरि सिंह और शेख अब्दुल्ला ने दिल्ली से मदद माँगी और भारत में मिलना तय किया। अन्यथा पाकिस्तानी सैनिक और जिहादी (कबायली) श्रीनगर पहुँचकर सबसे पहले उन दोनों का काम तमाम करते!

इस प्रकार, जम्मू-कश्मीर के लिए कोई विशेष प्रावधान नितांत अनावश्यक था, क्योंकि उस राज्य के शासक और नेता विलय के समय कोई शर्त रखने की स्थिति में ही नहीं थे। पाकिस्तानी उन की जान पर चढ़े आ रहे थे, जब उन्होंने भारत से जान बचाने की विनती की। भारत सरकार ने ठीक ही कहा, कि जब वे भारत का अंग नहीं, तो उन्हें बचाने के लिए भारतीय सेना कैसे जाती। अतः 26 अक्तूबर 1947 को जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय उन की प्राण-रक्षक जरूरत थी। विलय की औपचारिकता परी की गई. और पाकिस्तानी खदेडे जाने लगे।

भारतीय सेना पूरा कश्मीर खाली कराने के कगार पर थी, जब नेहरू ने दूसरी भयंकर गलती की। वे स्वतः युद्ध-विराम कर दिसंबर 1947 में कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र ले गए। इस मुद्रा में कि 'देखो, मैं कैसा उदार लोकतंत्रवादी हूँ!' इस तरह कश्मीर का पश्चिमी हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में ही रह गया। न वह रहता, न कोई झंझट बचती। क्योंकि उस समय सारी दुनिया जानती थी कि पाकिस्तान ने आक्रमण किया, और हार कर उसे हटना पड़ा। बात खत्म। क्योंकि कोई आक्रमणकारी कभी हारने, पिटने की शिकायत नहीं कर सकता! यदि वह प्रक्रिया पूरी होने दी गई होती, तो कश्मीर अविच्छिन्न रहता. और दसरे राज्यों की तरह भारत का सहज अंग तभी बन गया होता।

मगर नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र में ले जाकर कश्मीर को अपने हाथों से 'विवादित' बनाया। यह काम पाकिस्तान ने नहीं किया था। यह नेहरू ने किया, और पश्चिमी ताकतों को बना-बनाया हैंडल दे दिया, जिस से वे आज तक भारत की बाँह मरोड़ते रहते हैं। दूसरी ओर, जम्मू-कश्मीर के नेता केंद्र सरकार पर धौंस दिखाते, फुसलाते, विश्वासघात करते, आदि तरीकों से धारा 370 को स्थाई जैसा मनवाने में सफल रहे हैं। कुछ महीने के लिए बनी उस 'अस्थाई' धारा की वास्तविकता की लीपा-पोती कर दी गई है। इतना ही नहीं, दशकों से दिल्ली में चलती सेक्यूलरवादी, पर अज्ञान भरी राजनीति का भरपूर लाभ उठाकर अब तो कश्मीरी नेता आँखें दिखाते हैं कि उसे खत्म किया ही नहीं जा सकता! वरना...

ठीक भी है, स्वेच्छा से अपना विशेषाधिकार छोड़ने के लिए कौन राजी होता है! इसलिए यह मुख्यतः शक्ति का मामला है। सैनिक शक्ति से अधिक मनोवैज्ञानिक शक्ति। क्योंकि कश्मीरी नेता पाकिस्तान और भारत के बीच आज भी वैसे ही लाचार है, जैसे सितंबर 1947 में थे, जब उन्होंने स्वतंत्र रहने का पैंतरा सोचा और जिन्ना से तमाचा खाया था। इसलिए आज भी कश्मीरी मुसलमानों की सारी हवाबाजी ब्लफ है। जिस भारतीय सेना की उपस्थिति का वे रोना रोते हैं, उसी के कारण श्रीनगर में सुरक्षित रह रहे हैं। इस सेना के हटते उन्हें सीमा-पार की शक्तियाँ हजम करने में तनिक देर नहीं करेंगी।

फिर भी, तर्क के लिए देखें, तो धारा 370 को स्थाई बनाने, यानी जम्मू-कश्मीर को सदैव स्वायत्त रखने के पक्ष में दिए जाने वाले सभी तर्क फर्जी हैं। जब किसी कश्मीरी मुसलमान से पूछा जाता है कि बिना धारा 370 के भारतीय संविधान की कौन सी धारा उन के विकास में बाधक बनेगी. तो वे 'भावना की बात' जैसी लफ्फाजी के सिवा कुछ नहीं कह पाते।

वस्तुतः धारा 370 कश्मीरियों समेत पूरे राज्य की मुसीबतों की जड़ है। जो बाहरी जिहादी या पाकिस्तानी शासक कश्मीर पर मंसबे पालते हैं. उस के पीछे

कश्मीरियों का भारत से यह अलगाव भी है जो धारा 370 से बनता है। यह 'स्वायत्तता' ही बाहरी ताकतों को उम्मीद देती है कि भारत से तो यह आधा अलग तो है ही, बाकी उन्हें पूरा कर लेना है। यदि यह धारा न रहे तो विदेशी तत्वों के मनसबे कमजोर और अंततः खत्म हो सकते हैं।

किंतु अगर भावना की बात भी हो, तो शेष भारत कश्मीर से किस मामले में कम है। यदि कोई कथित कश्मीरी विशिष्टता है, तो पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक आदि कितने ही क्षेत्रों की विशिष्टता उतनी ही स्पष्ट है। तब केवल कश्मीर को स्वायत्तता क्यों।

वस्तुतः यह प्रकारांतर से द्वि-राष्ट्र सिद्धांत की छद्म स्वीकृति है कि जहाँ मुसलमान बहुमत हो, उन्हें अलग, विशिष्ट या स्वायत्त होने का विशेषाधिकार है। याद रहे, कि उस राज्य के बड़े हिस्से, जम्मू और लद्दाख ने हमेशा धारा 370 से छुटकारा चाहा। तब केवल कश्मीरी मुसलमानों की चाह क्यों चलती है। क्या पूरे राज्य पर कश्मीरी मुसलमानों का एकाधिकार है। निस्संदेह, कोई ऐसा तर्क नहीं दे सकता। इसीलिए 'अस्थाई' होने और राज्य की बहुसंख्या द्वारा नापसंद होने के बावजूद उस धारा को हटाने पर कोई विचार-विमर्श तक नहीं होने दिया जाता। सेक्यलर जमात में खलबली इसीलिए है, कि बात निकलेगी तो दूर तलक जाएगी...

तब साफ दिखेगा कि इस धारा के पक्ष में कहने के लिए कुछ नहीं है। जबकि विरोध में ढेरों बातें है। इस धारा से कश्मीरी मुसलमानों को विचित्र विशेषाधिकार हासिल हो गए हैं। उन पर कई केंद्रीय कानूनों, संस्थाओं, एजेंसियों का क्षेत्राधिकार लागू नहीं होता। वहाँ सीबीआई किसी भ्रष्टाचार की जाँच नहीं कर सकती। चाहे लाखों करोड़ो उड़ा लिए जाएं। कश्मीरी मुसलमान सारे भारत में संपत्ति खरीद सकते हैं, जबकि दूसरे राज्यों का कोई व्यक्ति कश्मीर में नहीं खरीद सकता। यहाँ तकि कि कोई कश्मीरी लड़की किसी अन्य राज्य के युवक से विवाह कर ले तो उस लडकी का भी अपने राज्य में सारा अधिकार छिन जाता है।

फिर, कश्मीर उस राज्य का केवल चौथाई क्षेत्रफल और आधी से कम आबादी हैं। पूरे राज्य की आमदनी उसके खर्चों का दसवाँ अंश भी नहीं। वे न अपना खर्चा चला सकते हैं, न अपनी रक्षा कर सकते हैं। सारा पैसा केंद्र देता है। सारे राजकीय ओहदे दो-ढाई सौ कश्मीरी मुसलमान परिवारों के पास है। इन चंद लोगों की रईसी और तानाशाही के लिए जम्म और लद्दाख के लाखों लोगों की भावना तिरस्कत की जाती है।

याद रहे, जम्मू और लद्दाख ने हमेशा धारा 370 से छुटकारा चाहा है। यह क्षेत्र राज्य का तीन चौथाई होते हुए भी, उस राज्य में आज तक कभी किसी गैर-कश्मीरी, हिंदू या बौद्ध को मुख्य मंत्री नहीं बनने दिया गया। तो क्या राज्य पर कश्मीरी मसलमानों का एकाधिकार बना रहना चाहिए। ऐसा तर्क कोई नहीं दे सकता।

इसीलिए 'अस्थाई' होने और राज्य की बहुसंख्या द्वारा नापसंद होने के बावजूद उस धारा को बनाए रखना अलोकतांत्रिक भी है। वस्तुतः यह 'अस्थाई' का नारा भारत के ऊपर एक मनोवैज्ञानिक दबाव है कि कश्मीर में अभी अन्तिम निर्णय शेष है।

उस धारा के कारण भी जम्मू-कश्मीर से कश्मीरी पंडितों का सफाया हुआ। फिर, वहाँ के प्रशासन में बेरोक भ्रष्टाचार की जड़ भी उसी में है। वहाँ सी.बी.आई. किसी भ्रष्टाचार की जाँच नहीं कर सकती। कई केंद्रीय कानूनों, संस्थाओं, एजेंसियों का क्षेत्राधिकार वहाँ लागू नहीं होता। चाहे लाखों करोड़ो उड़ा लिए जाएं। कश्मीरी मुसलमान सारे भारत में संपत्ति खरीद सकते हैं, जबकि दूसरे राज्यों का कोई व्यक्ति कश्मीर में नहीं खरीद सकता। यहाँ तक कि कोई कश्मीरी लड़की किसी अन्य राज्य के युवक से विवाह कर ले तो उस लडकी का भी अपने राज्य में संपत्ति-अधिकार छिन जाता है।

इस तरह की अनेक मनमानियाँ, गड़बड़ियाँ, वहाँ इसीलिए चलती रही हैं, क्योंकि धारा 370 के बहाने एकतरफा 'स्वायत्तता' का दावा बना लिया गया है। वित्तीय लूट, सांप्रदायिक मनमानी और सत्ता पर कुछ परिवारों का एकाधिकार, विदेशी ताकतों के साथ साँठ-गाँठ या उनकी घुसपैठ यही सब इस धारा की 'उपयोगिता' रही है। इसीलिए, कश्मीरी मुसलमान भी नहीं बता पाते कि इस धारा के न रहने से राज्य की जनता को क्या मुश्किल होगी!

इस तरह कश्मीरी मुसलमानों को शेष भारत की कीमत पर विशेष सुविधाएं मिल रही हैं। पर यदि कश्मीर को स्वायत्तता चाहिए तो केरल को क्यों नहीं। और अगर दो को चाहिए तो सब को क्यों नहीं। जब सभी प्रदेश स्वायत्त हो गए तो फिर भारत ही क्या बचेगा। तब कश्मीरियों की रक्षा करने और 'पैकेज' देने भी कौन जाएगा। ये सब लफ्फाजी नहीं. कठोर सत्य है। इसीलिए धारा 370 पर बहस नहीं होने दी जाती।

ऐसा भी नहीं कि कश्मीरी मुसलमान धारा 370 को प्राणों से अधिक चाहते हैं। प्रतिष्ठित ब्रिटिश एजेंसी मोरी यमार्केट एंड ओपीनियन रिसर्च इन्सटीच्यूट द्वारा किए गए सर्वेक्षण से पता चला था उस से अधिक जरूरी बातें कश्मीरियों की चिंता हैं। किसी आम कश्मीरी ने स्वायत्तता का रोना नहीं रोया। पाकिस्तान से मिलने के पक्ष में केवल 6% कश्मीरी थे, जबकि 61% भारत के साथ रहना चाहते थे। यह सर्वेक्षण दस साल पुराना है, मगर हालत यथावत् है।

इसलिए यदि गंभीरता पूर्वक धारा 370 हटाने का प्रयत्न हो, तभी स्थाई शांति का रास्ता खुलेगा। उसी से बाहरी जिहादियों की उम्मीदें टूटेगी। भारत से अलग, ऊपर या स्वायत्त रहकर कश्मीर की समस्या हल नहीं होने वाली। इस से केवल मुट्ठी भर कश्मीरी मुस्लिमों का ठाट-बाट और राजनीति ही चलती रह सकती है। वहाँ भारत से विलगाव की मानसिकता हटाना ही वह दिशा है. जिस पर चल कर चमत्कारी परिणाम मिल सकते हैं।

भारतीय अवधारणा. समझ और व्यवहार में नारी

मदला सिन्हा*

वर्तमान की व्याख्या करते हुए किसी ने कहा है- 'वर्तमान, भूत का फल है और भविष्य का बीज।' यह उक्ति किसी भी व्यक्ति, जाति, समाज, और देश के कल, आज और कल पर लागू होती है। इसी आधार पर भारतीय महिलाओं का गौरव भी निर्धारित किया जा सकता है। इस 'कल' को भी कई कालों में बाँटा जा सकता है। प्राक् वैदिक काल, पौराणिक काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल। इस अन्तिम को आधुनिक काल भी कहा जाता है। साहित्यकारों से इस काल की गणना अपने ढंग से की है। भारत एक राष्ट्र के रूप में अपनी सांस्कृतिक विषेषताओं के लिए ही अन्य राष्ट्रों से विशेष माना गया है। जब हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ऊपज हैं तो हमें अपने को स्त्री, पुरुष, परिवार, समाज, वर्ग, वर्ण, जाति और सम्प्रदाय की अपनी सांस्कृतिक अवधारणाओं के आधार पर ही देखना उचित होता है। क्योंकि समय के साथ जो व्यवहार बदलता है वह तत्कालीन भौतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और शैक्षणिक व्यवहारों का प्रतिफल होता है। इसमें पहनावा भी परिवर्तित होता रहता है, यह बाहरी परिवर्तन है। परन्तु सांस्कृतिक सूत्र अन्तःसलिला नदी की भाँति व्यक्ति, समाज और राष्ट के अन्दर प्रवाहित होता रहता है। जो उसका स्वभाव हो जाता है।

भारतीय नारी के इतिहास को जब लोग गौरवमय कहते हैं तो तात्पर्य यह होता है कि स्त्री को भी पुरुष के साथ पूर्ण बराबरी के रूप में देखा गया है। शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की परिकल्पना स्त्री और पुरुष को पूर्णरूपेण पूरक मानती है। एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अवधारणा के अनुसार ही स्त्री-पुरुष से परिवार, परिवारों से समाज की रचना की गयी। भारतीय चिन्तकों और मनीषियों ने स्त्री-पुरुष की प्रकृति पर निर्भरता और पूरकता को समझ कर ही विवाह और परिवार के विचार और व्यवहार का विकास किया। स्त्री-पुरुष की लैंगिक प्राकतिक भख तो जंगल में रहकर भी परी हो सकती थी। लेकिन भारत की सभ्यता.

*मदला सिन्हा. पी.टी.-62/20. डीडी ब्लाक. कालकाजी. नई दिल्ली-110019

पुरानी सभ्यताओं में चीन के साथ अग्रणी इसलिए मानी जाती है कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) की प्राकृतिक आवश्यकताओं को देखते हुए उसने 'परिवार' की परिकल्पना का विकास किया। विवाह संस्कार के विकास का परिणाम है परिवार!

मनुस्मृति के अनुसार आठ प्रकार के विवाहों को समाज ने मान्यता दी। कन्या के द्वारा चयनित वर व्यवस्था को उच्चकोटि का विवाह माना गया। तात्पर्य यह है कि विवाहोपरान्त घर में पत्नी की ही विशिष्ट भूमिका रहने वाली थी। इसलिए अपने योग्य वर का चयन वह स्वयं करे। विवाह के उपरान्त सहजीवन में किसी एक की वरीयता नहीं मानी गयी। परन्तु एकपत्नीव्रती राम ही आदर्श माने गये। नारी का बड़ा गुण 'पतिव्रता' होना माना गया। विवाह सम्बन्ध को सात जन्मों का सम्बन्ध माना; धीरे-धीरे सम्पत्ति के अर्जन और रक्षण का अभ्यास बढ़ा। स्त्रियों की सुरक्षा का भी प्रश्न उठने लगा। ऐसी स्थिति में यह माना जाने लगा कि 'ज़र, जमीन और जोरू जोर की होती है।' अर्थात् अवधारणा में परिवर्तन हुआ और स्त्री को भी जमीन और धन की श्रेणी में रखा जाने लगा। मनु के काल में तो स्त्री की तीनों अवस्थाएँ पुरुष के अधीन माने जाने लगीं। स्त्री की पुरुष के साथ सम्पूर्ण बराबरी और पूरकता की अवधारणा का प्रगटीकरण सामाजिक व्यवहारों में भी था। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय स्त्री जीवन था, तो स्त्री जीवन में भी चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का विधान था। स्त्रियों द्वारा भी वेदाध्ययन वेद की ऋचाओं के सृजन के उद्धरण आते हैं।

आखेट और खेती पर आधारित परिवार व्यवस्था में स्त्रियों की शारीरिक रचना को देखते हुए तथा गर्भाधान, और बच्चे पालन की जिम्मेदारियों के कारण बाहरी कठिन कार्यों को वर्जित किया जाने लगा। परन्तु यज्ञ, आहुति आदि कार्यों में बराबरी ही रही। बराबर के अवसरों का प्रावधान रहते हुए भी स्त्री के नैसर्गिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों को देखते हुए उसे पुरुष से भी ऊँचा स्थान दिया गया। 'यत्र नारर्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'—यह भावना पारिवारिक-सामाजिक जीवन के व्यवहारों में भी प्रगट होती रही। स्त्री के प्रति यह आदर का भाव अन्धकार युग में भी प्रगट होता रहा, जब स्त्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए सवारियों का विकास हुआ। डोलियों पर यात्रा करती महिलाएँ पुरुषों के कन्धों पर ही चलने लगीं। पुरुष के साथ स्त्री के स्थान की समझ विकसित करने के लिए स्त्री को पुरुष की 'इज्जत' के रूप में देखा जाने लगा। तभी तो घर की माँ, बहन, पत्नी की गालियाँ सुन कर पुरुष भड़कने लगा। जान की बाजी लगा कर भी स्त्री की सुरक्षा और सम्मान देने का व्यवहार पुरुष में विकसित हुआ। किसी भी पुरुष को नीचा दिखाने के लिए उसके सबसे बहुमूल्य माने जाने वाली बेटी. पत्नी का अपरहण और इज्जत लटने जैसे व्यवहार होने लगे।

समाज में इन विद्रूपताओं और विसंगतियों के पीछे स्त्री को पुरुष की इज्जत और सम्पत्ति मानना ही कारण था। मुगलों के काल में सुरक्षा की दृष्टि से ही महिलाओं को पर्दे के पीछे डाल दिया गया। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के क्षेत्र में पुरुष से महिलाओं की स्थिति दोयम दर्जे की हो गयी। चारों पुरुषार्थों के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी कम हो गयी। सच तो यह है कि उस अन्धकार युग में हानि स्त्री की नहीं, पुरुष, परिवार और समाज की अधिक हुई। भरत के निर्माण में शकुन्तला, लव-कुश के निर्माण में सीता ने जैसी भूमिका निभायी थी वैसी माताएँ कम होने लगीं। असर्यम्पश्या नारियाँ न पत्नी की भूमिका में दक्ष हुईं, न माता की।

उस स्थिति में भी स्त्री के बारे में भारतीय पुरातन अवधारणा और समझ समाप्त नहीं हुई थी। नारी विकास के लिए छः सौ वर्षों का मानो वह आपातकाल ही रहा। पुरुषों ने इस अवधि में भले ही स्त्री सुरक्षा की भरपूर व्यवस्था की, परन्तु इसी काल में स्त्री अपने सही स्वरूप और अपनी भूमिका को भूल गयी। अनपढ़ नारियाँ व्यवहारकुशल और समझदार तो थीं, परन्तु अपने को पुरुषों से दोयम दर्जे की कबूल करने की नासमझी भी उनमें विकसित हो गयी। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को सिर्फ पुरुषों का कार्यक्षेत्र मान लिया। 'तू आँगन की ज्योति बहन री, मैं घर का पहरेवाला' जैसी कविताओं ने स्त्री और पुरुष के कार्यों में बँटवारा कर दिया। इसके बावजूद स्त्री विकास के लिए तब तक हानिकारक स्थितियाँ नहीं पैदा हुई थीं। स्त्री के प्रति परुष और समाज की दृष्टि में बहुत अधिक गिरावट नहीं आयी थीं।

पुनर्जागरण काल के प्रारम्भ में ही भारत और भारतीयता की सही समझ रखने वाले चिन्तकों और सुधारकों ने यह समझ लिया कि जब तक स्त्री की जीवन दशा में सुधार नहीं होगा और इक्की-दुक्की महिला के पति की चिता में जल जाने जैसी घटनाओं तथा विधवा जीवन को शाप मानने वाली स्थितियों में परिवर्तन नहीं आएगा तब तक समाज का उचित विकास नहीं होगा और भारत अपने गौरव को पुनः प्राप्त नहीं करेगा। इसीलिए राजा राममोहन राय जैसे लोगों द्वारा सती प्रथा का उन्मलन तथा विधवा विवाह को प्रोत्साहन देने वाले आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना कर वैदिक सूत्रों और जीवन दृष्टि की पुनर्स्थापना का प्रारम्भ करते समय पुनः स्त्री को उसका पुराना ऊँचा स्थान दिलवाना आवश्यक था। इसीलिए बालिका शिक्षा पर बल दिया जाने लगा। महाराष्ट्र में महात्मा कर्वे, महात्मा फुले और उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई फुले ने स्त्री शिक्षा और रूढ़ियों के उन्मूलन पर बल देना प्रारम्भ किया। समाज पुनः आन्दोलित हुआ। स्त्री विकास की दिशा ढूँढ़ने के लिए बहिर्मुखी होने की जरूरत नहीं पड़ी। समाज अन्तर्मुखी होकर देखने लगा और अपने समाज के सुदूर इतिहास से ही स्त्री को धर्म. अर्थ. काम. मोक्ष में परुषों के समकक्ष लाने के सत्र मिलने लगे। दयानन्द

सरस्वती ने स्त्रियों को भी गायत्री मन्त्र पढ़ने, यज्ञ-हवन करने, तथा यज्ञोपवीत धारण करने के भूले-बिसरे अभ्यासों का स्मरण दिलाया और इन्हें व्यवहार में लाया। आर्य कन्या विद्यालयों की स्थापना हुई। इक्की-दुक्की महिलाएँ ही पर्दा प्रथा का विरोध करने के लिए बाहर निकलीं। फिर क्या था, पुरुषों ने भी सहयोग दिया। समाज निर्माण में स्त्री को उसकी भमिका का स्मरण दिलाना प्रारम्भ हआ। स्त्रियों की आँखें खलने लगीं।

इसी काल में देशभक्तों में देश को स्वतन्त्र बनाने की ललक जगी। कई विचारधाराओं के लोग स्वतन्त्रता आन्दोलन की बागडोर सम्भालने लगे। सभी ने महिलाओं की भागीदारी पर बल दिया। परन्तु सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गाँधी के आवाह्न का पड़ा। बड़ी संख्या में अनपढ़ महिलाएँ चरखा आन्दोलन और गाँधी के नमक सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लेने लगीं। शिक्षित महिलाओं को जहाँ नेतृत्व का अवसर मिला, वहीं अशिक्षित महिलाओं में भी राजनैतिक जागृति आयी। स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त महात्मा गाँधी ने बार-बार अपनी सभाओं में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी का उल्लेख किया।

सबसे बड़ा और विदेशी राजनीतिज्ञों को भी चौंकाने वाला कदम था संविधान में महिलाओं को पुरुष के बराबर का दर्जा देना। महिला और पुरुष के मत को बराबर माना गया। यह निर्णय भारतीय महिलाओं के गौरवशाली इतिहास और उनकी सामाजिक उपलब्धियों को देख कर ही लिया गया। संविधान द्वारा भारतीय महिलाओं को मिला यह बहुत बड़ा उपहार था। बहुसंख्यक महिलाएँ इस तोहफे का अर्थ भी नहीं समझती थीं। सम्भवतः इसीलिए इस अधिकार का उपयोग भी प्रारम्भ में कम हुआ।

आज स्वतत्रन्ता मिले छः दशक से अधिक समय बीत गया। सदी भी बदल गयी। 21वीं सदी के 13 वर्ष बीतने पर पुनः एक बार समीक्षा की घड़ी आयी है। आत्मावलोकन का समय आया है। पुरुष, समाज, सरकार तथा स्वयं स्त्रियों के लिए यह आत्मनिरीक्षण का विषय है कि क्या स्त्री विकास की दिशा और दशा उचित है? क्या स्त्री के हक के लिए बनाये जा रहे कानून भारतीय अवधारणा के अनुकूल हैं? क्या जल, थल, नभ पर पाँव धरती महिलाएँ अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हैं? लगभग सात दशकों की स्त्री विकास की दशा और दिशा क्या परिवार. समाज और स्वयं स्त्री विकास को सकारात्मक दिशा दे पा रही है?

प्रश्न तो घनेरों हैं, जिनके उत्तर ढूँढते समय कुछ तत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि स्त्री विकास की दिशा ढूँढने वाले चन्द सिरफिरे लोगों ने अन्धकार युग में भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति का स्मरण दिलाना शुरू कर दिया है। उन्होंने आँखें खोलती महिलाओं को समझाना प्रारम्भ किया कि उनके विकास के सदियों तक अवरुद्ध रहने का कारण परुष प्रधान समाज रहा है। अर्थात

पुरुषों ने उन्हें बढ़ने नहीं दिया। मुठ्ठी भर तथाकथित नेता महिलाओं द्वारा आत्मीयता से पति-पुत्र और परिवार के लिए भोजन बनाने के कार्य को भी पुरुष द्वारा महिला के शोषण की श्रेणी में रख कर युवतियों को बरगलाने लगे। तात्पर्य यह कि जाने अनजाने पुरुष को स्त्री का प्रतिद्वन्द्वी बना कर समाज में खड़ा कर दिया गया। स्त्री समस्याओं का निराकरण करते हुए यह धारणा बनायी गयी कि स्त्री की समस्याएँ मात्र उनकी समस्याएँ हैं, इसलिए निदान भी उन्हीं को निकालना होगा। स्त्रियों को संगठित होना होगा। उस संगठन से भी समस्या निवारण के कम, पुरुष विरोध के स्वर अधिक उठे।

महिला विकास के इस मनोभाव में आग में घी का काम करने वाला उन्हीं दिनों पश्चिम (अमेरिका) में एक नारा प्रज्ज्वलित हुआ- 'नारी मुक्ति' का नारा। जिसके तहत यह विचार आया कि नारी को पुरुषों से मुक्त कराना है। वे उनके बिना भी जीवन जी सकती हैं। बीसवीं सदी के 70-80 दशक में यह प्रवृत्ति पछुआ हवा की तरह झरझराती हुई भारत में भी आयी। 1980 में मैंने एक वक्तव्य में कहा था, 'भारतीय नारी को यह मुक्ति कबूल नहीं। उसे अपने दायित्वों और पुरुषों से मुक्ति नहीं चाहिए।' यह सच था। भारतीय स्त्रियों ने उस मुक्ति को कबूल तो नहीं किया, पर पश्चिम की हवा थी, कहीं-न-कहीं विकासोन्मुख नारी अधिकारोन्मुख भी हुईं और अपने कर्तव्यों से विमुख भी होती गयी। उनकी संख्या और प्रभाव की मात्रा बहुत कम रही। प्रभाव तो प्रभाव है। समाज ऐसे विचार को राख में छुपाये आग की तरह सँजो कर रखता है, जब आवश्यकता हुई चिनगारी सुलगा लेता है। 1980 में ही एक नारा गूँजा - 'हम भारत की नारी हैं, फूल नहीं चिनगारी हैं।' मैंने इस नारे में संशोधन किया था- 'हम भारत की नारी हैं, फूल और चिनगारी हैं।' मात्र 'नहीं' के स्थान पर 'और' लगा देने से ही नारा का अर्थ ही नहीं बदला. नारी की भमिका के लिए नारा अर्थवान हो गया।

नारी विकास में एक बड़ी भ्रान्ति, नारी को पुरुष बनाने की आयी। नारी विकास का लक्ष्य उसे पुरुष बनाना मान लिया गया। यह उसी मानसिकता का प्रतिफल है जो पुरुष को महिला से उच्च्य मानने लगा था। लड़कियों में भी लिवास, बोलचाल, शराब-सिगरेट पीने से लेकर नौकरी और व्यवसाय का वही क्षेत्र जिसमें परुष जाते हैं, के पीछे पुरुष से प्रतिद्वन्दिता या स्वयं पुरुष बनने की होड़ थी।

देश के चिन्तक, विचारक और कवि हृदय राजनेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सचेत करते हुए स्त्री विकास को दिशा दी- 'समानता के नाम पर जो नारी को पुरुष बनाने पर तुले हैं, वे उपहास के पात्र हैं, नारी को नारी ही रहना है। देखना यह है कि हाड़मांस की बनी यह नारी न कठपतली बन कर जिये. न उडनपरी बन कर देश की धरती से नाता तोड ले।'

हमारी संस्कृति प्रकृतिमूलक है। प्रकृति में स्त्री और पुरुष दो घटक हैं। सभी प्राणियों में यह स्थिति है। फिर हम प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते। परिणाम विपरीत होता है। जाने अनजाने स्त्री-पुरुष में प्रतिद्वन्द्विता का बीज हमने डाल ही लिया। 1980 में ही मैंने आगाह किया था- 'हर घर को अखाड़ा न बनाएँ।' हम मानें न मानें कमोबेश मात्रा में घर अखाड़ा बने हैं। विवाहों का विघटन धड़ल्ले से हो रहा है। तीन वर्ष से लेकर 70 वर्ष तक की महिला के साथ सामूहिक बलात्कार की घटनाओं की बढ़ोतरी हो रही है। पी.डी.ए. कानन के बावजद बालिका भ्रण हत्या बदस्तर जारी है।

स्त्री को सुरक्षा और सम्मान देना समाज का दायित्व रहा है। हमारे अनपढ़ समाज में भी 'गाँव की बेटी, सबकी बेटी' मानी जाती रही है। बेटी की सुरक्षा गाँव का दायित्व रहा। अब सारी जिम्मेदारी सरकार और पुलिस पर डाल कर पुरुष और समाज हाथ पर हाथ धरे बैठा है। दूसरी ओर राजनैतिक पार्टियाँ समाज के किसी भी घटक को वोट बैंक के रूप में ही देखती हैं। विधायिका द्वारा किसी वर्ग द्वारा माँग उठने पर उसे सन्तुष्ट करने के लिए कानून बना कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली जाती है। वोट बैंक को ध्यान में रख कर ही आज तक संविधान के दिशानिर्देशों में सम्मिलित 'समान नागरिक संहिता' का निर्माण नहीं हो सका। कानून की दृष्टि में कोई हिन्दू महिला है, तो कोई मुस्लिम महिला, कोई ईसाई वर्ग तो कोई पारसी। हम भारतीय महिला की परिभाषा नहीं बना पाये। नारी के प्रति भारतीय अवधारणा और समझ को अक्षुण्ण रखने की किसे पड़ी है। स्वयं नारी को भी नहीं।

जीवन में अर्थकरी विद्या के प्रचार-प्रसार और पुरुषों के कार्यक्षेत्र में पदार्पण की होड़ ने पढ़ी-लिखी युवतियों के एक वर्ग को घरेलू कार्यों और बच्चा पैदा करने जैसी प्राकृतिक जिम्मेदारियों से भी विमुख कर दिया है। पति-पत्नी के अकेले रहने की मनोकांक्षा ने वृद्धजनों को वृद्धाश्रम में भेज दिया है। यौन सम्बन्ध के मूल्यों को धता दिखाते हुए धड़ल्ले से लड़का-लड़की 'लिविंग टुगेदर' को पसन्द कर रहे हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि आज हमारी बेटियाँ जल, थल और नभ पर जा रही हैं। अर्थार्जन कर रही हैं। उनकी राजनैतिक भागीदारी भी बढ़ी है। आज भी सीता और सावित्री के अंश उनके अन्दर हैं। परन्तु वे अपने विशेष दायित्व को नहीं पहचानतीं। परिवार के प्रति कर्तव्य नहीं करने के कारण उनका सम्मान घटा है। नाती पोतों से भरी अनपढ़ बुजुर्ग महिलाएँ भरी पूरी होती थीं। उन्हें अभाव में भी जन-धन का भरपूर सहारा और आनन्द मिलता था। उन्हें पता था कि वे परुषों से विशेष थीं। आज महिलाएँ अकेलेपन का दंश भोगने के लिए मजबूर हैं।

उनके जीवन के इस वर्तमान में महिला विकास की सही दिशा ढूँढ़ने की आवश्यकता है। ताकि महिलाओं का वर्तमान उनके भविष्य का बीज बन सके। महिला को 'विशेष' मान कर ही महिला विकास की दिशा तय करनी होगी। तभी

समाज में वह पुरुष की बराबरी के दंगल से बाहर आएगी। तभी समाज उसके लिए स्वयं विशेष शिक्षा. विशेष सरक्षा. विशेष स्वास्थ्य और विशेष सम्मान का प्रावधान करेगा।

नारी विशेष थी, विशेष है, विशेष ही रहेगी। इस अवधारणा के अनुरूप ही कानून बनाने की जरूरत है। शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था करनी है। पुरुषों को यह एहसास दिलाने की जरूरत है कि महिलाओं के समुचित विकास से ही समृद्ध, शक्तिशाली और संवेदनशील राष्ट्र का निर्माण होगा। पुरुषों को संस्कारित कर महिला विकास की सही दिशा निर्धारण करना है। नारी की भारतीय अवधारणा मानव मात्र के लिए उपयोगी है। इस दिशा में भी पनः भारतीयता की ओर जाने की पहल आवश्यक है।

हिंदी का असंगत नाटक साहित्य

डॉ. नानासाहेब गोरे*

हिंदी नाटक साहित्य आरंभ से ही अपने समय के साथ प्रतिबद्ध रहा है। अपनी समसामयिक समस्याओं को पूरी निष्ठा एवं गंभीरता पूर्वक व्यक्त करने के लिए वह कभी अपने आशयों में तो कभी विषयों में परिवर्तन करता रहा। परंपरागत शिल्प शैली में जब नई समस्याओं, मान्यताओं, परिवर्तित सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक मूल्यों को व्यक्त करना उसे असंभव होने लगा तब उसने कई शिल्प-शैलिगत नव प्रयोग कर अपना सामाजिक उत्तरदायत्वि निभाते हुए समाज एवं समय का प्रतिनिधित्व किया। भारतीय स्वंतत्रता के पश्चात् तो यहाँ का जनजीवन तथा व्यवस्था का प्रत्येक क्षेत्र विचार एवं व्यवहार के स्तर पर जड़ से हिल गया। समाज को सुचारू ढंग से चलाने के लिए बनाई गई प्रत्येक व्यवस्था में विसंगतियाँ फैल गई। इस विसंगति भरे समय को परंपरागत नाट्यशिल्प में प्रस्तुत करना मुश्किल होने लगा। परिणामतः विसंगत परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए नाटककारों को असंगत नाटयशिल्प ही अधिक उपयक्त लगा।

असंगत नाटक में प्रस्तुत किया जानेवाला असंगत शब्द अंग्रेज़ी के 'Absurd' के हिंदी पर्याय के रूप में प्रयक्त किया जाता है। ऑक्सफोर्ड ॲडव्हान्स्ड लर्नर्स डिक्सनरी में 'Absurd' के 'unreasonable, 'not sensible'1 आदि अर्थ दिए गए हैं। हिंदी के प्रख्यात भाषा पंडित डॉ. हरदेव बाहरी 'असंगत के विसंगत, अनर्थक, अर्थहीन, अनुचित, अयुक्त, अनुपयुक्त, विवेकशून्य, अनर्गल, असंबद्ध, हास्यास्पद, उपहासास्पद, बेढंगा, बेतुका, बेहूदा, उलजलूल, वाहियात, लचर, बे सिर-पैर का आदि अर्थ देते हैं।[2] साहित्य के क्षेत्र में शिल्पगत विधान के रूप में यह शब्द अधिकतर नाटक के साथ ही जडकर आ जाता है। अर्थात अंग्रेजी में जो Absurd Drama है वही

*सहा. प्राध्यापक. हिंदी विभाग. जे.ई.एस. महाविद्यालय. जालना। भ्रमणध्वनि–9422219183
ई-मेल : nanasahebgore@gmail.com

हिंदी में असंगत नाटक है। स्वातंत्र्योत्तर कालीन विशिष्ट प्रकार की शिल्प शैली में लिखे गए नाटकों को असंगत नाटक कहा जाता है।

डॉ. भगवानदास वर्मा इस शब्द की जन्म कहानी के संदर्भ में लिखते हैं। "अलबर्तो कामू ने सन् 1942 में 'द मिथ ऑफ सिसिफस' के नाम से एक लेख लिखा जिसमें सिसिफस का प्रतीक लेकर अस्तित्व की उद्देश्यहीनता और असंगति दर्शक नाटकों का प्रारंभ हुआ। इसे ही असंगत की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। सन् 1960 में मार्टिन एकलिन की पुस्तक 'दि थियेटर ऑफ दि एब्सर्ड' में पहली बार 'एब्सर्ड' शब्द का प्रयोग किया गया। इस पुस्तक में उसने 'एब्सर्ड' शब्द तथा उसके दर्शन की विस्तृत व्याख्या की है।"[3] आगे चलकर विशिष्ट खेमे के नाटकों को यह नाम दिया गया। 'सन् 1961 में ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी में यह शब्द सम्मिलित किया गया तथा सन् 1966 में 'द पेंग्यन डिक्सनरी ऑफ थियेटर' में इस शब्द को परिभाषित किया।'[4]

असंगत नाटककार परंपरागत नाट्यशिल्प को ही चुनौती देता है। इन नाटकों में जीवन एवं जगत् की विसंगतियों की विसंगत तरिके से प्रस्तुति की जाती है। इसीलिए इन्हें आरंभ में उलजलूल नाटक भी कहा गया। परंपरागत नाटकों की भाँति इसमें कोई सुसंबद्ध कथावस्तु नहीं देती। गोविंद चातक के शब्दों में, "वस्तुतः विसंगतवादी नाटक स्थितियों का नाटक है, घटनाओं या चरित्रों का नहीं। उसका लक्ष्य कहना नहीं काव्यात्मक बिंब प्रस्तुत करना है। विसंगतवादी नाटककार मानवीय स्थितियों की सही विद्रुपता का दर्शन कराने के लिए प्रायः बिंबों, दुःस्वप्नों और अतिकल्पनाओं को माध्यम बनाते हैं और अतिरंजनापूर्ण कथावस्तु, विलक्षण चरित्रों और सनसनीखोज दृश्य-योजना का अटपटा प्रयोग कर पाठकों को झटका देते हैं।"[5] इन नाटकों में घटना नहीं मानवीय विकृत स्थितियाँ होती हैं। एक स्थिति का दूसरी स्थिति से कोई संबंध नहीं होता। असंबद्ध घटनाओं की बेहुदी हरकतों की प्रतीकात्मक प्रस्तुति इसमें होती है। इन नाटकों का फैलाव वृत्ताकार होता है। प्रस्तुति के लिए प्रयुक्त पात्र व्यवस्थागत सत्य में मानवीय अस्तित्व के प्रश्न का वहन करने वाले होने के कारण वे भी अटपटे ही होते हैं। इनमें अधिकतर गंदे, बीमार, मानसिक विकृतियों से पीड़ित, बदशक्ल, दुश्चरित्र, आलसी, निकम्मे, चोर, उचक्के, आवारा, अपराधी, खंडित, दमित. विक्षिप्त. बहिष्कत. निरर्थक. निर्हेतक. बोझिल जीवन जीनेवाले पात्र होते हैं।

असंगत नाटकों में संवादों का स्थान विसंवादों ने लिया है। असंगत नाटककारों के मतानुरुप वर्तमान समय में संवादों की स्थितियाँ ही समाप्त हो चुकी हैं। इनमें संवाद कम और बेहुदी हरकतें अधिक होती है। ऊपरी तौर पर संवाद और हरकत में कोई संगति नहीं होती। मंच पर उपस्थित पात्र कई बार असंबद्ध संवाद करते हैं तो कई बार घिसे-पिटे संवाद. एकालाप. वाक्यों की पनरावत्ति. अधर संवाद. अभी उछल

कूल तो कभी सर्वथा निरर्थक मौन धारणा करते हैं। इन निरर्थक संवादों तथा बेहुदी हरकतों में भी एक अर्थ होता है जो मनुष्य के समयगत वास्तव को प्रस्तुत करता है। परंतु पाठकों, दर्शकों को अपने दिमाग पर जोर डालकर उस निरर्थकता में छिपे अर्थ को ढूँढना पड़ता है। मनुष्य की अस्तित्वविहीनता तथा उसके जीवन के बेतुकेपन की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले नाटकों में छिपे अर्थ समझ लेने की कसरत पाठकों तथा दर्शकों को करनी पड़ती है।

असंगत नाटकों में चलने वाला संपूर्ण क्रिया कलाप सर्कस की भाँति चौंकाने वाला होता है। ये किसी भव्य विचार या दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं करते और न ही किसी वाद या विचारधारा का प्रतिनिधित्व। वे व्यक्ति के अस्तित्वगत प्रश्नों को खड़ा कर इस संसार में उसके स्थान एवं व्यवस्था में उसकी कीमत को स्पष्ट करते हैं। अर्थात् व्यक्ति के आत्मगत सत्य को व्याख्यायित करते हुए आज की जटिलतम व्यवस्था में उसकी अस्तित्वविहीनता की नवव्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसकी ऊब. अकेलापन, मृत्युबोध, निरर्थकताबोध की अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं।

हिंदी साहित्य में असंगत नाटकों का सही विकास भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् ही हुआ। परंतु इस प्रकार के प्रयोग हिंदी नाटक साहित्य में स्वातंत्रता के पहले हुए ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। आजादी के पहले ही भुवनेश्वर ने 'ताँबे के कीड़े', 'उसर' जैसी असंगतदर्शी नाट्य रचनाएँ लिखी थी। डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में, "हिंदी नाट्य रचना, में असंगत नाटक के कपितय तत्व सर्वप्रथम भुवनेश्वर के नाट्य-प्रयोग 'ताँबे के कीड़े', 'उसर' जैसे नाटकों में दिखलाई पड़े थे, जो सन् 1930-35 के आस-पास लिखे गए।"[6] परंतु उस समय के समीक्षकों ने इनहें उलजलूल रचनाएँ कह कर उसका उपहास किया तथा साहित्य क्षेत्र में लेने से भी इंकार किया।

दो विश्वयुद्धों के महाविनाशक परिणामों तथा औद्योगिकरण के दुष्परिणामों से पाश्चात्य देशों में मनुष्य के अस्तित्व के संकट तथा उसके जीवन की निस्सारता के जीवन दर्शन से प्रेरित एब्सर्ड नाटक लिखे गए। इन नाटकों में ज्याँ जेने का 'द मेडस्', आयनेस्को का 'बाल्ड प्रिमोडोना' तथा सॅम्युएल बैकेट का विश्वविख्यात नाटक 'वेटिंग फॉर गोदो' की विश्वभर में प्रशंसा तथा समीक्षा होने लगी। तब भारतीय परिस्थितियों से प्रेरित होकर पाश्चात्य असंगत नाटकों की ही भाँति भारतीय व्यवस्था में अनुभूत निरर्थकता, अस्तित्वविहीनता, व्यवस्थागत विसंगतियों की अभिव्यक्ति असंगत नाट्य शिल्प में करना हिंदी नाटककारों ने आरंभ किया। भुवनेश्वर, विपिनकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, सत्यव्रत सिंहा, मणिमधुकर, काशीनाथ सिंह, रमेश बक्षी, हमीदुल्ला, मद्राराक्षस, शांति मेहरोत्रा, बृजमोहन शाह, सुदर्शन चोपड़ा, रामेश्वर प्रेम, चंद्रशेखर, शंभूनाथ सिंह, राजकमल चौधरी, सुदर्शन मजिठिया, रमाशंकर निःशेश, डॉ. चंद्र आदि नाटककारों ने असंगत नाट्यधारा के विकास में अपना योगदान दिया है। स्वतंत्रता के पश्चात समाज को सचारु ढंग से चलाने के लिए बनाई गई प्रत्येक व्यवस्था में

अव्यवस्था फैल गई। चारों ओर अनाचार, भ्रष्टाचार फैल गया। यांत्रिकीकरण ने पुरुष को भी एक यंत्रवत् बनाकर संपूर्णतया संवेदनहीन बनाया। परिणामतः सामान्यजन उब, घुटन, संत्रास का अनुभव करने लगा। इस प्रभाव में वह मानवीय कम और यांत्रिक आचरण अत्यधिक करने लगा।

स्वतंत्रता के पश्चात् समाज, राजनीति, प्रशासन, अर्थव्यवथा आदि में सुव्यवस्था लाने की दृष्टि से कई प्रयास किए गए परंतु सार्वजनिक क्षेत्रों में शासकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों की अकार्यक्षमता तथा कार्य शैथिल्य के कारण हमारे देश का जितना विकास होना चाहिए था उतना नहीं हो पाया। निजी क्षेत्रों में पूँजिपतियों की विलासिता, चोर बाज़ारी, शोषक प्रवृत्ति ने सामाजिक वातावरण में अपनी जगह बना ली। राजनीतिक सेवा का कम और लूट का धंधा अधिक बन गई। इसलिए विभिन्न हथकंडों से सत्ता हथियाने की घृणित, लज्जास्पद, स्वार्थी राजनीति का बोलबाला चारो ओर फैल गया। चुनावों में रिश्वत, शराब, धोखाधड़ी, मारपीट, खूनखराबा जैसे जनतंत्र के लिए अशोभनीय कृत्य सरेआम किए जाने लगे। शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र को भी राजनीति के कुकर्मों से बक्शा नहीं गया। राजनीतिक पार्टियाँ छात्रों, उनके संघों को ऊँची नौकरियाँ, धन आदि का लालच दिखाकर उनका चुनावों की राजनीति में इस्तेमाल करने लगी। आम नेताओं की तरह ही छात्र नेता भी अध्ययन की ओर कम और विलासिता की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने लगे।

मुखौटाधारी, अवसरवादी नेता एक ओर रामराज्य, जातिविरहित समाज व्यवस्था, शोषणमुक्ति, सबको रोटी-कपड़ा-मकान, हर हाथ को काम जैसी घोषणाएँ कर रहे थे तो दूसरी ओर जातिवाद, धर्मान्धता, अलगाववाद, शोषण, अत्याचार, भ्रष्टाचार, अनाचार को बढ़ावा दे रहे थे। धर्म निरपेक्षता के नाम पर जातीय दंगे किए जाने लगे जिसमें हजारों निरपराध लोगों की जानें चली जाने लगीं। एक इंसान से दूसरे इंसान को तोड़ने का जितना कार्य राजनेताओं ने किया उतना शायद ही और किसी ने किया होगा। व्यवस्था के नियंताओं, उन्नायकों के स्वार्थी, काली करतूतों ने तो आदमी को उतना असहाय बना दिया कि प्राप्त परिस्थितियों के साथ समझौता किए बगैर चलने के सिवा और कोई मार्ग ही उनके सामने शेष नहीं रहा। अपनी मर्जी, इच्छा, आवश्यकता के अनुरूप सामाजिक, राजनीतिक चालें चलते हुए सामान्यजनों का इस्तेमाल करते रहने की विकत मानसिकता ने आम आदमी को और भी विवश बना दिया।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिस्थितियों तथा यांत्रिकीकरण के प्रभाव ने मनुष्य को पूरी तरह अकेला, निराश, कुंठित, असहाय बना दिया। सबकुछ समझकर भी परिस्थितियों का दास बने विकल्पहीन प्राप्त परिस्थितियों को चुपचाप सहते जीने की नियति मात्र उसकी बन गई। उसके चयन के अधिकार छीने गए। जीने के विकल्प ही समाप्त होने के कारण प्राप्त

परिस्थितियों में घुटते मृत्यु तक निरर्थक जीवन काटना मात्र उसके हाथ में रह गया। इससे कुंठा, निराशा, उब, घुटन, संत्रास, निरर्थकता, अजनबीपन की भावना उसमें बलवती होती गई। असंगत नाटककारों ने मनुष्य के इन्हीं बोधों की अभिव्यक्ति अपने नाटकों में की है। देश में सर्वव्यापी, भ्रष्टाचार, विलासिता, भूखमरी, लूट-पाट, हत्या, नारी के साथ दुर्व्यवहार, शोषकों की भोग प्रवृत्ति, पारिवारिक विघटन, मानसिक तनाव, वर्ग-संघर्ष, नैराश्य, कुंठा, अकेलापन, अजनबीपन, मृत्युबोध, निरर्थकता का चौंकानेवाला अंकन हिंदी असंगत नाटकों में मिलता है। मानवीय मूल्यों और रिश्तों की टूटन, पुरानी पीढ़ी की अहंमन्यता, चारित्रिक दुर्बलता. देहभोगी विलासिता जैसी विसंगतियों का चित्रण भी इन नाटकों में मिलता है।

असहाय, विकल्पहीन स्थितियाँ स्वातंत्र्योत्तर कालीन व्यवस्था तथा यांत्रिकीकरण की सबसे बड़ी देन रही है। विपरित स्थितियों में मनुष्य अपने अस्तित्व की तलाश में लग गया जिसमें उसके हाथ मोहभंग की स्थितियों के अलावा और कुछ न लगा। परिस्थितियों का दास बना किसी मशीन के पहिए की भाँति निर्धारित दायरे में सुनिश्चित गति से घूमते रहने की नियति मात्र उसकी बन गई। पल-पल मोहभंग के साँप उसे डँसने लगे। बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकु' के युवक को इसी प्रकार व्यवस्था इस्तेमाल कर विकल्पहीन बनाए जीने के लिए छोड़ देती है। स्नातकोत्तर शिक्षा पूरी करने पर भी दर-दर की ठोकरे खाता हुआ मोहभंग की वेदना को अनुभूत करता है। व्यवस्था द्वारा कमजोर बनाकर दुतकारे, फटकारे गए तिरस्कृत जीवन जीने के लिए अभिशप्त मोहभंग के अंधेरे में निरर्थक अंतहीन भटकनेवाले युवक के संदर्भ में थियेटरवाला कहता भी है "अपना उल्लू सीधा करने के लिए तमने इसे समझना. बोदा. उलझा. कनफयूज्ड करके त्रिशंकु बना रखा है।"[7]

राजनीतिक व्यवस्था का तिकड़म और स्वार्थलिप्सा इतनी गिर गई कि आत्मसम्मान से जीने की चाह रखने वालों का उन्होंने जीना ही हराम कर दिया। 'मरजीवा' के आदर्श और 'भूमि', 'शह एक मात' के कप्तान, 'अपनी पहचान' की अपर्णा 'तिलचट्टा' का देव, 'घोआस' के पासी, घीसा, फूजा, नाजी, 'तेंदुआ' का माली योअर्स फेथफुली के कार्यालयीन कर्मचारी मोहभंग के अंधकार में छटपटाते जीव ही है। डॉ किरणचंद्र शर्मा के शब्दों में, "अब-तक संसार के बारे में हमारी यह धारणा रही कि वह तर्कगम्य है, लेकिन अब विश्व से हमारा मोहभंग प्रारंभ हुआ। मनुष्य जगत् में अकेला. अजनबी और निर्वासित है तथा भविष्य के लिए कोई संभावना शेष नहीं है।"[8]

मोहभंग तथा विकल्पहीनता की स्थिति में मनुष्य के निरंतर अकेलेपन का बोध सताता है। विसंगत परिस्थितियों तथा यांत्रिकता ने इस बोध को और भी गहरा बना दिया है। हिंदी के अधिकांश असंगत नाटकों में अकेलेपन की पीड़ा की अभिव्यक्ति की है जो एक मानसिक बीमारी के रूप में व्यक्ति का हनन कर रही है। डॉ. मिश्र के

मातानुसार, "इस भरे-पूरे विश्व में कभी-कभी व्यक्ति अकेलेपन की तीखी अनभूति के साथ सबकुछ बीमारी होने की कुरेदनेवाली वृत्ति से ग्रस्त होता है। इसमें व्यक्ति की उस गाथा आस्था का क्षय होता है तो उसको संकल्प शक्ति देकर प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष में प्रवृत्त करती है।"[9] अकेलेपन की पीड़ा का बोध पहले पश्चिम में हुआ। जाँ पाल सार्त्र, अलबर्तो कामू, सोरेन किर्कगार्द आदि दार्शनिकों ने इसपर काफी चिंतन भी प्रस्तुत किया। आन्द्रे मालरू ने 1925 में कहा था कि युरोपीय आदमी के सामने अनिवार्य विसंगति की स्थिति है। पश्चिमी का आदमी असंगत जीवन जीता है। ईश्वर ही नहीं मनुष्य भी मर गया है। और एक शून्य के नीचे अकेला निरुपाय खड़ा है।'[10]

वर्तमान परिवेश की अर्थहीनता ने मुक्ति के सब द्वार बंद किए हैं जिससे किसी गहरी अंधकारमय गुँफा में फेंक दिये जाने की अनुभूति से सभी ग्रस्त केवल तनहा अकेले में छटपटा मात्र रहे हैं। 'ताँबे के कीड़े', 'अमृतपुत्र', 'मरजीवा', 'शह ये मात', 'त्रिशंकु', 'तीसरा हाथी', 'ठहरा हुआ पानी', 'उलझी आकृतियाँ', 'तेंदुआ', 'तिलचट्टा', आदि नाटकों के पात्र अकेलेपन के बोझ को ढो रहे हैं। 'तीसरा हाथी' की शुभा मोहन; 'ठहरा हुआ पानी' की सीता, देबू, रमा, अम्मा; 'लोटन' के मालती, किशोर; 'एक और युद्ध' की आशा सभी अकेलेपन की पीड़ा से पीड़ित हैं। पाश्चात्य चिंतकों द्वारा अकेलेपन पर किए गए चिंतन के अनुरूप दो विश्वयुद्धों के महाविनाश तथा औद्योगिकरण के विकास के कारण पश्चिम में अकेलेपन की भावना बढ़ती रही। परंतु हिंदी असंगत नाटकों में व्यक्त अकेलेपन की पीड़ा के कारण समसामयिक संबंध एवं व्यवस्था में अधिक छिपे हैं। इसलिए इन नाटकों के पात्रों को अनुभूत होनेवाली अकेलेपन की पीड़ा व्यवस्थागत विसंगितयों के कारण है। हेतु भारद्वाज लिखते हैं, "हम देख रहे हैं कि सत्य के मार्ग पर चलनेवाला और श्रम तथा ईमानदारी से जीनेवाला हर आदमी अपने को अकेला महसूस कर रहा है। क्योंकि उसको बहिष्कृत करने के हरदम प्रयास चल रहे हैं। लेखक का काम इसी आदमी की पक्षधरता करना है और अपनी रचना के माध्यम से इस व्यक्ति की प्रतिमा को टटने से बचाना है। आज के लेखक के समक्ष यह सबसे बड़ी चुनौती है।"[11]

असंगत नाटककारों ने मनुष्य की मृत्युबोध की स्थितियों का चित्रण अपने नाटकों में किया है। इन नाटकों पर अस्तित्ववादी चिंतन का प्रभाव है। अस्तित्ववाद मृत्यु को जीवन के शुद्ध तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। मनुष्य के अस्तित्व की सही परिचायक उसकी मृत्यु है। इस मृत्युबोध की अभिव्यक्ति हिंदी नाटककारों ने अपनी भावभूमि पर की है। समसामयिक विसंगत परिवेश में व्यवस्थापक, नियंता सर्वोपरी तथा आम व्यक्ति अस्तित्वविहीन, निरर्थक बन गया है। ऐसी अवस्था में उसके मृत्युबोध की स्थिति व्यवस्था के विरुपता को स्पष्ट करती है। यहाँ उनका मृत्युबोध उनके अस्तित्व की घोषणा करने के लिए नहीं अपित विपरित परिस्थितियों दमघोंट

वातावरण में उनकी अस्तित्व विहीनता जाहिर करने की दृष्टि से नाटककारों ने प्रस्तुत की है। असंगत नाटकों के पात्रों को जीवन की ऊब, निराशा, कुंठा, बेबसी, पीड़ा, आदि से मुक्ति समस्याओं के समाधान में नहीं मृत्यु में ही दीख रही है। इसीलिए असंगत नाटकों के पात्र या तो आत्महत्या करते हैं या फिर मृत्यु नहीं आ रही है इसलिए जीते हैं या फिर जीवितावस्था में ही खुद को मरा हुआ अनुभूत करने लगते हैं। 'मरजीवा', 'अपनी पहचान', 'योअर्स फेथफुली', 'शह ये मात', 'तीसरा हाथी', 'अमृत पुत्र', 'ठहरा हुआ पानी', 'घोआस', 'कटा नाखून', 'लोटन', इन नाटकों में मृत्युबोध की स्थितियों का अंकन मिलता है। क्योंकि समसामयिक परिवेश इतना विषाक्त बन गया है कि वह स्वयं व्यक्तियों का चयन कर अपने जाल में घसीट रहा है। यही कारण है कि अधिकांश नाटकों के पात्र जीवन में अन्य कोई विकल्प न मिल पाने के कारण आत्महत्या करते हैं। वे जीने की भरसक कोशिश तो करते हैं परंत लाख प्रयासों के बावजूद जीने का नया विकल्प ढूँढ़ नहीं पाते।

जिंदगी की सड़ाँध तथा विकल्पहीनता की स्थिति से उबरकर 'मरजीवा' के आदर्श एवं भूमि आत्महत्या की कोशिश करते हैं जिसमें भूमि मर जाती है पर बचे हुए आदर्श को राजनीतिक हादसे का शिकार बनाया जाता है। 'अपनी पहचान' का पात्र निश्चित आधार के अभाव में आत्महत्या करता है। 'योअर्स फेथफुली' के कार्यालयीन कर्मचारी मृत्यु की ओर आस लगाए बैठे हैं। 'शह ये मात', 'तीसरा हाथी', 'अमृत पुत्र', ठहरा हुआ पानी', 'घोआस', 'कटा नाखन'. 'लोटन'. आदि नाटकों में मत्यबोध की स्थितियों की अभिव्यक्ति मिलती है।

शोषणमूलक, वस्तुवादी तथा यांत्रिक व्यवस्था में मनुष्य को अपना जीना संपूर्णतः निरर्थक प्रतीत हो रहा है। प्राप्त परिस्थितियों, विसंगतियों से बाहर निकलने की उसकी इच्छा एक छलावा मात्र बनकर रही है। वह जी रहा है अपने लिए कम और औरों के हित एवं इस्तेमाल में अधिक। इन स्थितियों से उद्धार की प्रतीक्षा भी एक अनंत काल तक चलनेवाली परंपरा बना है। क्योंकि वह समाप्त भी हो सकता है परंतु मनचाही व्यवस्था नहीं ला सकता। इसलिए प्राप्त परिस्थितियों में अपना जीना उसे निरर्थक लगता है। इस निरर्थकता बोध की अभिव्यक्ति असंगत नाटकों में खुलकर की गई है। योगेंद्र शाही के शब्दों में, "भौतिक उपलब्धियों के बावजूद मानव आज विभ्रम में है और मन से अशांत है। अपने क्रियाकलापों के संबंध में वह अश्वस्त नहीं। व्यर्थता बोध से आंतरिक रूप से ग्रस्त है। भौतिक रूप से जितनी ही शक्ति संपन्नता बढ़ रही है उतना ही मनुष्य अपने को व्यक्तिगत जीवन में तथा समाज में शक्तिहीन अनभत करने लगा है।"[12]

हिंदी असंगत नाटकों का विकास पाश्चात्य एब्सर्ड नाटकों के विकास के पश्चात् जरूर हुआ परंतु वे पाश्चात्य एब्सर्ड नाटकों की अनुकृति मात्र बनकर नहीं रहे। हिंदी के असंगत नाटक संपर्णतया भारतीय स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में ही विसंगती

के परिणामस्वरूप लिखे गए हैं। स्वातंत्र्योत्तर कालीन मोहभंग, मूल्य–हास, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में पनपती हुई विसंगतियों की अभिव्यक्ति के एक सशक्त माध्यम के रुप में इन नाटकों का विकास हुआ।

असंगत नाटकों की इस नवीनतम नाट्यधारा ने हिंदी नाट्य-जगत् को कुछ समय तक जरूर चमत्कृत किया परंतु यह नाट्यधारा अधिक दिनों तक चल न सकी। जिस भावभूमि तथा दर्शन से प्रेरित प्रभावित ये नाटक थे वह दर्शन संपूर्ण निरास्थावादी था। भारतीय मानस आस्थावादी होने के कारण उस दर्शन को वह न तो हज़म कर सका और न ही स्वीकार कर सका। दूसरे इन नाटकों का शिल्प ही जटिल होने के कारण नाटयलेखक एवं नाटयकर्मी इस ओर अधिक नहीं झक पाए।

संदर्भ

1. Oxford Advanced Learners-A.P. Cowie Dictionary, प. 5
2. बृहत् हिंदी कोश भाग–1 –डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. 10
3. साहित्य की विधाधर्मिता–डॉ. भगवानदास वर्मा, पृ. 58
4. समकालीन हिंदी नाटककार–गिरीश रस्तोगी, पृ. 21
5. रंगमंच कला और दृष्टि–गोविंद चातक, पृ. 123
6. आज का हिंदी नाटक प्रगति और प्रभाव– डॉ. दशरथ ओझा. प. 17
7. त्रिशंकु–बृजमोहन शाह, पृ. 31
8. असंगत नाटक और रंगमंच–सं. नरनारायण राय, प. 96
9. हिंदी नाटकों के सौ वर्ष–सं. डॉ. तिवारी, पृ. 100
10. समकालीन हिंदी नाटककार–सं. नरनारायण राय, पृ. 96
11. आज के परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य–हेतु भारद्वाज. प. 14
12. अस्तित्वादः किर्कगार्द से काम तक–योगेंद्र शाही. प. 07

रामराज्य की अवधारणाएँ और हमारा लोकतन्त्र

शोभाकान्त झा*

कभी हम लोग उन बातों और उन विषयों पर विचार करने लग जाते हैं, जिन्हें हम लोग या तो भुला चुके होते हैं अथवा उन पर आज विचार करना अप्रासंगिक लगता है, बुर्जुआपन लगता है, बुढ़बस लगता है। वर्षों से पेटी में पड़े कपड़े को निकालकर धूल झाड़ने या धूप दिखाने जैसा लगता है। रामराज्य की अवधारणाओं और वर्तमान लोकतन्त्र पर चिन्तन किया जाना, कुछ-कुछ ऐसा ही लग सकता है। किन्तु शास्त्र हो या परम्परा उन पर बार-बार चिन्तन, अनुचिन्तन होते रहना चाहिए। इससे हमारे शास्त्र और परम्पराएँ रूढ़िग्रस्त नहीं हो पाते। वे हमारे विकास के लिए अवरोधक नहीं बन पाते। वे कमोवेश प्रासंगिक बने रहते हैं और हमें भी ऊर्जा प्रदान करते रहते हैं। बल्कि यों कहें कि शास्त्र और परम्पराएँ निरन्तर हमारे भीतर प्रवहमान रहते हैं और सही दिशा में हमें गतिमान बनाए रखते हैं। निर्मल वर्मा का मन्तव्य उल्लेखनीय है इस सन्दर्भ में कि "भारतीय परम्परा किसी एक परम पुस्तक या पैगम्बर के सन्देश से नहीं जुड़ी है, उसे आत्म या अन्य के रिश्ते को संयोजित करने के लिए बार-बार उन मूल स्रोतों की ओर जाना पड़ता है, जिसे हम 'परम्परा' का नाम देते हैं। अतः परम्परा कोई बन्द, ठहरी हुई, जड़ चीज नहीं हैं।" ('परम्परा बोध में द्वन्द्व' लेख से) यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में कही जाती है। यही राम-राज्य के सम्बन्ध में कहीं जा सकती है।

'रामराज्य' भी एक शासन-शास्त्र है; नीतिशास्त्र है; लोकतंत्र नीति निदेशक सिद्धान्त है। इसकी कुछ अच्छी बातों को लेकर भारतीय लोकतन्त्र पर आज के सन्दर्भ में विचार करना चाहिए। इसकी अवधारणाओं से भलीभाँति अवगत होकर इसमें निहित मूल्यों और नीतियों को अपनाना चाहिए। दुनिया-भर के संविधान से लेकर हमने अपने संविधान को बनाया है। फिर अपने अतीत से, इतिहास, रीति-नीति से परहेज क्यों? क्या यही धर्मनिरपेक्षता का आशय है कि अपने देश के इतिहास-पुराणों तथा जहाँ कहीं भी राम-श्याम किसी भी रूप में शामिल हों. उनसे परहेज करें?

*डा. शोभाकान्त झा. कशालपर. रायपर. (छत्तीसगढ)—492001

दरअसल, यह धर्मनिरपेक्षता का आशय कतई नहीं। सत्ता पर काबिज होने या बने रहने के लिए लोग संविधान की व्याख्या अपने कुत्सित पक्ष-पोषण के लिए अपने-अपने ढंग से करते रहते हैं, देश चाहे जाए भाड़ में।

खुले मन से यदि विचार करें तो रामराज्य कहने के लिए राम का राज्य था। राजतन्त्र था। परन्तु विचार करें तो न राम व्यक्ति थे और न उनका राज्य कोरा राजतन्त्र। राम ऐसे व्यक्ति थे, जिनमें पूरा लोक समाया हुआ था। लोकाराधन उनका अभीष्ट मन्त्र था। वे लोकाराधन के लिए सर्वस्व त्याग के लिए सतत तत्पर रहते थे। उनके राज्य त्याग में लोगों को भले ही पितृ आज्ञा का पालन पहले दिखाई पड़ता है, परन्तु उसके पीछे लोकोपकार का गहरा भाव था। आर्तत्राण का अभियान था, अन्यथा वे धनुष-बाण को संग नहीं ले जाते। राम-कथा साक्ष्य है। 'अध्यात्म रामायण में कथा आई है कि जब देवों को पता चला कि राम अयोध्या के युवराज बनाए जा रहे हैं तब ब्रह्मा ने नारद मुनि को भेजा और कहा कि वे अयोध्या जाकर एकान्त में श्रीराम से प्रार्थना करें कि उनका अवतरण पृथ्वी के भार उतारने के लिए हुआ है। यदि वे अयोध्या के राज्य शासन में आसक्त हो जाएँगे तो यह कैसे सम्भव होगा? लोक को रुलानेवाले रावण का वध कैसे हो पाएगा? श्रीराम ने नारद को आश्वस्त किया था कि 'आप लोग चिन्ता न करें। मुझे प्रतिज्ञा याद है। समय आने पर सारे कार्य सम्पन्न होंगे। मैं रावण के विनाश के लिए दण्डकारण्य जाऊँगा। उस दुष्ट को सीता-हरण के बहाने सपरिवार नष्ट करूँगा'—

रावणस्य विनाशार्थं श्वो गन्ता दण्डकाननम।
चतुर्दशसमास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक ॥
सीतामिषेण तं दुष्टं सकुलं नाशयाम्यहम।
एवं रामे प्रतिज्ञाते नारदः प्रममोदह ॥

अ.रामा.अयोध्या कांड 2-38.39

तात्पर्य यह कि व्यक्ति राम ऐसे राजा थे, जिनका लोकरंजन उद्देश्य था। लोक संग्रह उनका अभीष्ट था। लोक-मंगल उनका मन्त्र था। राम-परिवार और राम-दरबार के सभी लोग राजा की ही मान्यताओं के अनकल आचरण करते थे। उनका राजतन्त्र असली गणतन्त्र का सम्मिश्रण था।

आइए जरा राम-राज्य के शील-आचार पर विचार करें और सोचें कि क्या यह राज्य खयाली पुलाव है? क्या वह व्यावहारिक नहीं है? क्या उसके कतिपय गणों को आज भी अपनाकर हमारा लोकतन्त्र समृद्ध नहीं हो सकता?

कहते हैं कि रामराज्य में दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से प्रजा तापित नहीं थी, ऐसा क्या था इस राज्य में कि त्रिविध ताप लोगों को यहाँ नहीं सताते थे, जब कि शरीर को आधि-व्याधि का घर बताया जाता है? शक्ति लगने पर लखन लाल भी

अचेत हो गए थे। चमत्कार दिखाना रहता तो फिर राम ने वैद्य को क्यों बुलाया? हनुमान को औषधि लाने क्यों भेजा? फिर तुलसी ने ऐसा क्यों लिखा कि—

अल्प मृत्यु नहि कवनेहु पीरा। सब सुन्दर सब निरुज शरीरा ॥

उ.कां. 20-3

ऐसा लिखने का सम्भवतः यह आशय है कि राम के राजा रहते राज्य की ऐसी स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था थी कि दैहिक पीड़ा किसी को सताती नहीं थी। लोगों का ऐसा रहन-सहन था, ऐसे आचार-विचार थे कि तीनों ताप व्यक्ति को प्रभावित नहीं करते थे। आज भी कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने आज तक एक टेबलेट नहीं खाई है। वे डॉक्टर-वैद्य के पास नहीं गए हैं। क्योंकि उनके खान-पान, रहन-सहन, सोच-विचार ऐसे सुन्दर और नियमित हैं कि उन्हें शरीर-पीड़ा व्यापती नहीं। देर रात तक जागने वाले, प्रभात पवन, किरण से दूर रहनेवाले लोग कैसे निरुज रह सकते हैं? बाबा रामदेव के शिविर में एक सज्जन ने खुले मन से स्वीकार किया था कि—वह बीस साल बाद आज सूर्योदय देख रहा है और अतिशय आनन्द का अनुभव कर रहा है। ऐसे में शरीर निरुज कैसे रह सकता है?

राम-राज्य में भौतिक सुख पर्याप्त था, परन्तु भोगजन्य रोगों से लोग ग्रस्त नहीं थे। घर का भोजन आज लोगों को भाता नहीं है। होटलों के चटपटे अस्वास्थ्यकर भोजन उन्हें ज्यादा पसन्द हैं। भोजन समय पर करते नहीं या उन्हें सुलभ नहीं। बार-बार चेताने पर लोग धूम्रपान नहीं छोड़ते। जहरवाला शीतल पेय पीते हैं। शहद नहीं, शराब पीते हैं। आदि-आदि अपथ्य भोजन करनेवाले लोग कैसे शरीर पीड़ा से बच सकते हैं? बहुतों को भोग ही भोग रहा है। अतिशय संचय की प्रवृत्ति उनसे अनाप-शनाप क्रिया-कलाप कराती है। दौड़ाती है—घुड़दौड़ के घोड़े की तरह, तनावग्रस्त बनाती है। कम-बेसी होती विद्युत धारा की तरह, फिर तो शरीर-जन्य भाँति-भाँति के रोग होने ही हैं। देव मन्दिर शरीर को व्याधि मन्दिर होना ही है।

एक ताप दूसरे ताप को जन्म देता है। अर्थसंचय यदि भौतिक ताप से निजात दिलाता है तो अत्यधिक संचय संघर्ष बढ़ाता है। शत्रु पैदा करता है। तरह-तरह की मानसिक-शारीरिक व्याधियों का शिकार बनाता है। राम-राज्य में भौतिक ताप इसलिए नहीं सताता था कि वह धर्माचरण से शासित था। संचय नहीं, त्याग का भाव था। सत्य, सेवा, दान, दया से संयुक्त भौतिक समृद्धि प्रजा को भौतिक और दैहिक ताप से दूर रखती थी। दैविक ताप भी उपर्युक्त दोनों तापों से असम्बद्ध नहीं। आज का आदमी ईश्वर को, विचार को, सदाचार को मरा समझकर अनर्थकारी ढंग से अर्थ संचय और काम सेवन में लगा हुआ है। प्रकृति पर विजय पाने के क्रम में अमानवीय ढंग से पर्यावरण को दूषित कर रहा है। फलतः दैवी कोप का वह पात्र बनता जा रहा है। कभी प्रकृति के प्रकोप, कभी महामारी, कभी दुर्घटनाएँ घटित होकर तापित कर

जाती हैं, जिन पर मनुष्य का वश नहीं चलता। जो तर्कों से परे हैं, ऐसे ताप दैविक हैं। अकाल, महामारी, प्रकृति के प्रकोप के अनेक रूप इसी ताप के रूप हैं। एड्स जैसे असाध्य भयंकर रोग तीसरे पुरुषार्थ काम को पूजा भाव से न जीने का परिणाम कहा जा सकता है, तो कैंसर, तनावजन्य रक्तचाप, मधुमेह आदि रोगों का बढ़ना अर्थ और जीवन के बीच बढ़ते असन्तुलन का दुष्फल है। जीवन के अथ और इति को न समझने का दुष्परिणाम है। भारतीय प्रज्ञा प्रकृति में भी प्रभु का दर्शन करती है। वह प्रकृति को रौंदना नहीं, उसकी पूजा करना जानती है। उस पर विजय नहीं, विनयपूर्वक उसका उचित उपयोग करती है। गाँव-गाँव में पूजे जा रहे पीपल और वट वृक्ष आज भी इसकी गवाही देते हैं। इसी पूजाभाव के कारण राम-राज्य में भी सभी वृक्ष समय पर फलते-फूलते थे। वर्षा समय पर होती थी। इसमें राम-कृपा का चमत्कार तो था ही, प्रकृति के साथ अमानवीय ढंग से छेड़छाड़ न करने का भी प्रभाव था। लेखक भी कोई त्रेता की बात नहीं बता रहा है, अपितु इसी जीवन का अनुभव बता रहा है कि 20-30 वर्ष पहले तक छत्तीसगढ़ में इतनी पर्याप्त वर्षा होती थी कि कहीं मेड न बाँधने पर भी धान पर्याप्त हो जाता था, परन्तु आज...?

राम-राज में समृद्धि थी। वैर-भाव का अभाव था—धर्म अपने चारों चरण—सत्य, सेवा, दान, दया के साथ रक्षित था। ये सारे चमत्कार नहीं थे, अपितु राम-जैसे राजा के आचरण और शील-स्वभाव के स्वाभाविक सुफल थे। जैसा राजा वैसी प्रजा—*नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थित* (वा.रा. 2-44-26)। अर्थात् राम ने बढ़कर इस लोक में कोई सत्पथी नहीं था। कुपन्थ पर चलनेवाले का साथ तो विभीषण जैसा अच्छा भाई भी छोड़ देता है। अपने भी पराये हो जाते हैं, परन्तु सही राह के राही के साथ गैर भी अपने बनकर चल पड़ते हैं। वनवासी और वानर-भाल तक जीने-मरने लगे। राम जहाँ रहे वहाँ की भूमि अवध बन गई।

वाल्मीकि की तो यहाँ तक मान्यता रही कि जहाँ राम जैसे लोग राजा नहीं वह देश राष्ट्र नहीं है। जहाँ राम निवास करेंगे, वह वन भी राष्ट्र होगा और हुआ भी ऐसा ही—

नहि तद भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः,
तद वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥—वा.रा. 2-37-29

सोचकर देखिए तो यह राम का कोई दैवी चमत्कार नहीं था, अपितु उनके चरित्र का प्रभाव था। उनके धर्माचरण और लोकमंगल साधिका नीतिमत्ता का सहज परिणाम था। राम वनवासियों के बीच उनके जैसे जीवन जीते रहे, उन्हें भाई के समान मानकर आदर देते रहे। बिना किसी दिखावे और भेदभाव के उन्हें अपना बनाते रहे। उनकी रक्षा करते रहे। उन्हें निर्भयता प्रदान करते रहे। उन्होंने वनवास को उपासना समझकर जीया। पिता की आज्ञा पालन करना मात्र उनका उद्देश्य नहीं। लोक मंगल साधन में उनके चौदह वर्ष बीते।

राम-राज्य राजतन्त्र स्वरूप से था, पर उसकी आत्मा लोकतन्त्रात्मक थी। वैयक्तिक जीवन को छोड़कर सारे लोक संग्रह के निर्णय मन्त्रियों, गुरु, सुहृदों की सहमति से लिए जाते थे। वनवास के समय भी हनुमान, सुग्रीव, विभीषण, अंगद—सबसे सलाह लिए जाते थे। उनकी बातें राम मानते भी थे और जब वे राजा भी बने तब भी उन्होंने भाइयों, गुरुओं, मन्त्रियों सबको कह रखा था कि आप सब जब कभी मुझे गलत नीतियों पर चलते देखें या बोलते पाएँ तो बिना किसी भय-संकोच के मझे रोकें—

जौ अनिति कछ भाखौं भाई. तौ मोहि बरजऊ भय बिसराई ॥

—रा.च.मा. 7-41-3

उनके मन्त्री भी वही लोग होते थे, जो सब तरह से चरित्रवान. योग्य होते थे और उन पर नागरिकों का विश्वास होता था—

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ,
कुलीनाश्चेंगिताज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघवः ,
ससंवतो मन्त्रि धरैरमान्यैः शास्त्रकोविदैः ॥—वा.रा. 2-900-15.16

महाभारत का भी यही अभिमत है—

तस्मै मन्त्रो प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता सता ।
पौरजानपदा यस्मिन विश्वासं धर्मतो गताः ॥—म.भा. 12-83-45.46

राम को युवराज बनाने से पूर्व दशरथ ने नागरिकों, गुरु, सबसे से राय ली थी।

दरअसल, जिस राज्य का राजा प्रजा हितैषी होगा, योग्य और चरित्रवान होगा उस राज्य का मंगल होना ही है। ऐसा राजतन्त्र सदा से काम्य रहा है। भारतीय मनीषा ने प्रजा रक्षण और रंजन के कारण ही राजा को राजा कहा है—

राजा, प्रकृति रंजनात्— कालिदास। ऐसा लोकतन्त्र भी किस काम का, जहाँ जनता अरक्षित हो, भयग्रस्त हो, प्रतिभा का सम्मान न हो, अपूज्य पूजा जाए और पूज्य ठोकर खाए? जहाँ अपनी भाषा का, संस्कृति और परम्परा का आदर न हो, वह लोकतन्त्र दुर्बल ही रहेगा। रामायण ने तो स्पष्ट निर्देश दिया है कि अपने देश के निवासी को ही राजदत. मन्त्री आदि बनाना चाहिए।

कच्चिजानपदो विद्वान दक्षिणः प्रतिभावान् ,
यथोक्तवादी दतस्ते कतो भरत पंडितः ॥—वा.रा. 2-100-35 ।

दण्डविधान और कर-विधान, खेती-बाड़ी, वाणिज्य-व्यवसाय, अध्ययन-अध्यापन, समता-शान्ति. सख-समद्धि. सार्वजनिक स्वास्थ्य. शौर्य. गौरव और इन सबसे ऊपर

राष्ट्रहित का समुचित ध्यान रखा जाता था। तभी राम-राज्य सभी प्रकार के ताप-शापों से मुक्त था, न कि दैवी चमत्कार से। राम के गुप्तचर राजा के सम्बन्ध में भी गुप्तचरी करते थे। राजा ने दण्ड का या भय का प्रयोग कर किसी की स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं लगाया। तभी तो एक धोबी के कहने पर राम ने निर्दोष सीता का परित्याग कर दिया। उनकी घोषणा थी कि लोकाराधन के लिए स्नेह, दया, सख यहाँ तक कि जानकी को भी त्यागा जा सकता है और उन्होंने त्याग भी दिया—

स्नेह दयाञ्च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि ,
आराधनाय हि लोकस्य मञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

उत्तर रामचरितम— भवभति।

आज के तथाकथित प्रजातन्त्री राजा महाराजा लोग, लोग-लुगाई को त्यागने की बात तो सोच भी नहीं सकते। वे तो पूरे देश को भी चरकर अघा नहीं पा रहे हैं। वे अनुचित संग्रह के लिए क्या कुछ भ्रष्टाचरण नहीं करते रहते हैं। रोज-रोज के समाचारपत्र साक्षी हैं। देशभक्ति की रामनामी चादर ओढ़कर तथा राजघाट पर सौ-सौ किरिया खाकर भी वे देश को खा रहे हैं। ऐसे लोकतन्त्र में जी रहे लोगों को रामराज्य की कल्पना तो कपोल कल्पित लगेगी ही। गाँधी ने रामराज्य की कल्पना की, उन्हें मान दिया गया। गैर ने तो गोली मारी थी और थोड़ी देर की पीड़ा झेलकर वे विदा हो गए थे। अपने तो उन्हें रोज मार रहे हैं—उनके मूल्यों का गला घोंटकर।

राम के राज्य में सबको जोड़ा गया; सबको राष्ट्रीय धारा में लाया गया; सभी जातियों के प्रमुखों को सभ्य समझकर सभा में स्थान दिया गया—*सभ्या सर्वासु जातिषु*। (शुक्रनीति) कोई विषमता नहीं थी—*राम प्रताप विषमता खोई।* परन्तु इस लोकतन्त्र में? अंग्रेज जो कार्य अधूरा छोड़ गए, उसे वह ब्याज सहित पूरा कर रहा है। देश को तो अंग्रेज बाँट गया और समाज को हम बाँट रहे हैं बेहतर रूप से—वर्गों में. जातियों में. क्षेत्रों में।

वेबमीडिया और हिन्दी

नीलम पाण्डेय*

सूचना और प्रौद्योगिकी के इस युग में वेब मीडिया और हिन्दी का अन्तः सम्बन्ध वैश्वीकरण की देन है। मीडिया के जितने भी साधन—दृश्य, श्रव्य तथा प्रिण्ट—हैं, उन्हें वेब (वर्ल्ड वाइड वेब) के साथ जोड़ा ही नहीं गया, बल्कि विश्व में द्वितीय स्थान रखने वाली हिन्दी के प्रचलन को देखते हुए वेब मीडिया में स्थानान्तरित भी किया गया। इसके कारण दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक हिन्दी-भाषी तथा अहिन्दी-भाषी इसे पढ़ और लिख सकते हैं। संचार क्रान्ति भौगोलिक विश्व की माँग है, क्योंकि जोड़ने का कार्य तो यही कर रही है, जिसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। समय के बदलते परिवेश में शिक्षा और तकनीकी के कारण लोगों की धारणाएँ परिवर्तित होती जाती हैं। संचार और सूचना के आरम्भिक दौर में लोगों की धारणा कुछ इस प्रकार थी कि "यही वह तार है जो हमारा गला घोंटता है।"[1] आज के सन्दर्भ में देखें तो संचार, सूचना और तकनीकी के अभाव में सांस लेना भी दूभर है। संचार और सूचना जगत में अंग्रेजी के पश्चात् अगर किसी भारतीय भाषा को स्थान मिला है तो वह हिन्दी भाषा ही है। जैसे कि प्रो. रमेश जैन कहते हैं कि "इण्टरनेट पर आज भी अग्रेजी का वर्चस्व है, लेकिन अन्य भाषाएँ भी पीछे नहीं हैं। इण्टरनेट पर भारतीय भाषाओं का आगमन का पहला अवसर हिन्दी पोर्टल *वेब दुनिया* को मिला। वेब दुनिया के संस्थापक एवं मुख्य कार्यकारी अधिकारी विनय छजलानी हैं। नई दुनिया डॉट काम पहली बहुभाषी ई-मेल, ई-पत्र और पहला हिन्दी पोर्टल वेब दुनिया डॉट कॉम इण्टरनेट पर लाया गया।"[2] वेब मीडिया पर हिन्दी अपनी उपस्थिति समाचार, साहित्य, खेल, मनोरंजन, वाणिज्य, ज्योतिष और ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से दर्ज करा रही है। वेब मीडिया का सारा कार्य-व्यापार तथ्यपरक होता है कि जस-की-तस बात रख दी

*नीलम पाण्डेय (पी-एच. डी. रिसर्च स्कोलर), डिपार्टमेण्ट ऑफ हिन्दी, हैदराबाद सेण्ट्रल यूनिवर्सिटी, गच्चीबाली, हैदराबाद 500046. E-mail : pandey.neelum@gmail.com(Cont : 09490313574, 09293314082

जाए, परन्तु वरिष्ठ पत्रकार सुधीश पचौरी का मानना है कि—"मीडिया में मूल कोई स्थिति होती ही नहीं। हर कथा अपना पाठ निरन्तर बदलते चलती है।"[3] विचारों और तथ्यों का सामंजस्य बिठाना बड़ी टेढ़ी खीर है। उम्बर्ती इको का मानना है कि "विचार को तंग लिबास पसन्द नहीं।"[4] सूचना जगत में तथ्यों और विचारों की आपसी टकराहट आज स्पष्ट दिखाई पड़ती है। वेब मीडिया पर हिन्दी समाचारों का प्रसारण होता है। उत्तर भारत से दैनिक जागरण डॉट कॉम, हैदराबाद से दैनिक हिन्दी मिलाप डॉट कॉम, दिल्ली और मुम्बई से दैनिक नवभारत टाइम्स, इण्डिया टाइम्स डॉट कॉम, इन्दौर से नई दुनिया डॉट कॉम तथा नई दिल्ली से साप्ताहिक हिन्दी डॉट इण्डिया टुडे डॉट कॉम आदि (लगभग 131) ऑन लाइन समाचार उपलब्ध हैं जिनके द्वारा देश-विदेश की सभी खबरें प्राप्त की जा सकती हैं। साहित्यिक गतिविधियों के लिए हिन्दी साहित्य की लगभग 74 तथा हिन्दी पत्रिकाओं की लगभग 103 ऑन लाइन सुविधाएँ जारी हैं, जिनके माध्यम से वेब मीडिया पर साहित्य समाचार, साहित्य सृजन और साहित्य पठन-पाठन सम्भव हो रहा है। साहित्य की जानकारी के लिए अभिव्यक्ति—साहित्य का सुरुचिपूर्ण साप्ताहिक फेस बुक पर टीम अभि—अभिव्यक्ति डॉट आर्ग, हिंखोज, नेट पर हिन्दी का संसार—हिन्दी होम पेज डॉट कॉम आदि पर संस्कृत काव्य हिन्दी में, संक्षिप्त महाभारत हिन्दी में, सामान्य ज्ञान और साहित्यक प्रश्नोत्तरी हिन्दी में उपलब्ध है। हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाएँ—अभिनव, चिन्तन-सृजन, अंचल भारती, आह्वान, युद्धरत आम आदमी, वागर्थ, समकालीन समाचार, बहुवचन, मनस्वी, साहित्य समीक्षा के अतिरिक्त चन्दामामा, गृहलक्ष्मी तथा क्रिकेट टुडे जैसी असाहित्यिक पत्रिकाएँ भी ऑन लाइन हैं। जिसके माध्यम से साहित्य तथा समाज की जानकारी ली जा सकती है।

मनोरंजन और सूचनाओं के लिए लगभग 19 तथा खेल से सम्बन्धित 15 ऑन लाइन सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें हिंखोज, दुनिया देखो हिन्दी में, इण्डिया डॉट हिन्दी एफ.एम. रेडियो, हिन्दी डॉट शब्दकोशिश डॉट कॉम, खुदी को कर बुलन्द इतना, सूडोको आदि के द्वारा आप मनोरंजन तथा सूचनाओं को प्राप्त कर सकते हैं। व्यापार और वाणिज्य की 18 ऑन लाइन सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा व्यापार-कार्य सम्भव हो रहा है इसमें प्रापर्टी संसार डॉट कॉम, बिजनेस स्टैण्डर्ड, टाटा इण्डिकॉम डॉट काम, ई-बैंकिंग, ई-कामर्स आदि हैं। व्यापार और समाचार-पत्र मुख्य अधिकारी अरुण नटेश का दावा है कि मैं बड़ी कम्पनियों की छोटी-सी खबर देता हूँ। साथ ही वह यह भी घोषणा करते हैं कि "अवश्य ही यह साइट प्राथमिक स्तर पर काम कर रही है, परन्तु भविष्य में इसमें बहुत सारे परिवर्तन जल्द ही होंगे और लाइव न्यूज और लाइव स्टॉक मॉर्केट सम्मिलित होंगे।"[5] तकनीकी और सूचना के क्षेत्र में भारत में 3 सितम्बर, 2008 से मोबाइल सॉफ्टवेयर तकनीकी द्वारा विण्डोज मोबाइल जैसे मोटोरोला, एच. टी.सी., सैमसंग आदि पर भी हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जा रहा है। गगल

डेस्कटाप, स्कैप्स ए.बी.सी. डॉट कॉम, बी.बी.सी. डॉट कॉम, कम्प्यूटर सीखो डॉट कॉम, दम तो मारो दम डॉट ब्लॉग्स्पॉट डॉट इन, हिन्दी वेब निर्देशिका, विज्ञान डॉट वर्ड प्रेस डॉट कॉम, अच्छी खबर, मैं स्त्री डॉट कॉम. मीडिया साथी डॉट कॉम आदि पर हिन्दी का कार्य-व्यापार सम्भव हो रहा है।

वेब मीडिया ने अंग्रेजी के पश्चात् हिन्दी को अपने प्रयोग की भाषा तो बनाई, परन्तु उसके स्थायित्व हेतु कोई सुनियोजित मानदण्ड निर्धारित नहीं किए, जिसके कारण भाषायी ढाँचा प्रभावित हुआ। संक्रमित हिन्दी की चिन्ता को अनिल चमड़िया अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं कि "हिन्दी के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए एक मुकम्मल भाषा के निर्माण की कोई योजना और रूपरेखा निश्चित नहीं है। इसलिए सुरक्षा के लिहाज से यह भर कहा जा सकता है कि इस भाषा के निर्माण की प्रक्रिया जारी है, लेकिन इस प्रक्रिया में यह देखा जा रहा है कि हिन्दी को प्रचलित अर्थों में गाँव की कमजोर लुगाई मान लिया जा रहा है, जिसके साथ तमाम तरह के मजाक हो रहे हैं।"[6] वेब मीडिया पर प्रयोग की जाने वाली हिन्दी का वाक्य-विन्यास, वर्तनी दोष, शब्दों का अनुवाद और प्रयोग सभी कुछ प्रभावित हुआ है। प्रयोगकर्ता बिना किसी जागरूकता के उसका उपयोग कर रहे हैं। जैसे हिंखोज के एक चटकले का हिन्दी प्रयोग देखिए—

पति से पत्नी कार चलाना सीख रही थी।

अपने पति से बोली : ये सामने का सीसा सही नहीं लगा हआ है।

पति ने पुछा : क्यों क्या गडबड है?

पत्नी ने कहा : इसमें पीछे आ रही कारें ही देख पाती हँ पर अपना चेहरा नहीं देख पा रही हूँ।

रेखांकित शब्दों पर ध्यान दिया जाए तो भाषा का सतहीपन स्पष्ट दिखता है।

हिन्दी प्रयोग का एक और उदाहरण—

कम्पुटर सुदार्बने के लेन काल करे मो. न. 9993749620

इन उदाहरण में वर्तनी दोष, वाक्य-विन्यास, शब्दों की अनभिज्ञता आदि को आसानी से पहचाना जा सकता है। मीडिया साथी डॉट के ब्लॉग पर महेन्द्र प्रताप सिंह लिखते हैं कि एफ.एम. रेडियो के प्रभाव और समाचारों के तेज गति से होते प्रसार के इन क्षेत्रों में भी अशुद्ध और अमानक भाषा सुनने-पढ़ने को मिल रही हैं कई स्तरीय समाचार-पत्र भी अब इस बुराई की जद में आ गए हैं। इसके पीछे कई कारण हैं। जैसे बढ़ती माँग के चलते अनेक अयोग्य लोग इस क्षेत्र में आ गए हैं, जो न पत्रकारिता के प्रति सचेत हैं और न भाषा के प्रति। कई बार तो मीडिया हाउसों के उच्च पदों पर बैठे मीडियाकर्मियों, पत्रकारों और अधिकारियों को भी भाषा की पर्याप्त जानकारी नहीं होती। टी.आर.पी. के दृष्टिकोण से भी देखें तो अशुद्ध भाषा का प्रयोग गलत उच्चारण टिकर या बैंकिंग न्यज में चलती गलत वर्तनी दर्शकों को चैनल से विमख कर सकती

है।"[7] हिन्दी के पोर्टल प्रभासाक्षी के सम्पादक बालेन्दु दाधीच वेब मीडिया में हिन्दी के प्रयोग की समस्या पर कहते हैं कि "हिन्दी साइटों के लिए विजनस मॉडल ढूँढ़ना भी टेढ़ी खीर है। कोई सरकारी इमदाद़ नहीं मिलती बुनियादी ढाँचे के खर्चे ज्यादा हैं। (हालाँकि प्रिण्ट मीडिया से तो कम ही है) हिन्दी फाण्ट की समस्या सबसे विकराल है। की-बोर्ड का मानकीकरण हुआ नहीं है।"[8] वेब मीडिया पर हिन्दी के चलन और भाषा के साथ किए गए खिलवाड़ तथा प्रयोग पर वे कहते हैं कि "भाषा से खेलना एक रोचक, रचनात्मक और सकारात्मक अभ्यास हो सकता है, लेकिन भाषा से खिलवाड़ करना किसी भी लिहाज से ठीक नहीं कहा जा सकता। वर्तमान हिन्दी मीडिया में हिन्दी के साथ यही हो रहा है। कुछ मीडिया कर्मियों के अज्ञान, अध्ययन की कमी और लापरवाही की वजह से हिन्दी मीडिया की भाषा परिष्कृत और विकसित होने की बजाये दूषित और अशुद्ध होती जा रही है।"[9] वरिष्ठ पत्रकार मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में "एक गोष्ठी में जब मैंने शिल्प और भाषा की बात उठाई, तब एक जनवादी युवक लेखक ने मुझे याद दिलाया कि शिल्प तो मोची को भी आता है और लच्छेदार बातों से रिझाना तो रण्डी भी जानती है। विचार है कि शिल्प को घटिया ठहरानेवाला यह तेवर कहीं मनुवादी तो नहीं है।"[10] भौगोलिक विश्व के परिणामस्वरूप भाषा को वस्तु मानना और समाज को उसका खरीददार समझकर चलने की अवधारणा पर मनोहर श्याम जोशी का मानना है कि "इन विशेषज्ञों की यह मान्यता है कि अमीर ग्राहक तक पहुँचना जरूरी है और अमीर ग्राहक स्वयं उनकी तरह पूरी तरह पश्चिमी रंग में रँगा हुआ है। उनका बार-बार आग्रह होता है कि प्रोडक्ट को अपमार्केट, गोया पश्चिमी रंग में रँगे हुए भारतीयों को पसन्द आ सकने लायक, बनाया जाए।"[11]

वेब मीडिया की हिन्दी सशक्त न होते हुए भी लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हो रही है; 21वीं सदी के इस वैश्विक युग में अपनी जगह तलाश रही है। अग्रसर होने की इस प्रक्रिया में बहुत कुछ पीछे छूट भी रहा है और बहुत नया जुड़ भी रहा है। वेब मीडिया पर हिन्दी भाषा का यह संक्रमित रूप देखकर भाषायी पुरोधा चिंताग्रस्त हैं। वे इसे भाषायी प्रदूषण या भाषायी दोष मानते हैं, परन्तु वे इस तथ्य से अनभिज्ञ कैसे रह सकते हैं कि संचार और सूचना के माध्यम से ही हिन्दी को विश्व फलक प्राप्त हुआ है। वेब मीडिया पर हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर अच्युतानन्द मिश्र का वक्तव्य है कि "बाजारवाद के सहारे 21वीं सदी में हिन्दी भाषा वैश्विक फलक पर अपनी जगह तलाश रही है। ग्लोबलाइजेशन का दबाव और 'प्रोडक्ट' या ब्राण्ड बनकर हिन्दी अपने तेवर के साथ आगे बढ़ती जा रही है। हिन्दी राष्ट्रभाषा तो न बन पाई, लेकिन वह मीडिया मालिकों के आर्थिक मुनाफे की भाषा बन गई है। उनकी नजर में साहित्य और पत्रकारिता के चन्द शुद्धतावादी लोग, जो इस क्रान्ति को भाषायी प्रदूषण बता रहे हैं। यह नहीं पाते कि वास्तव में यह दौर हिन्दी मीडिया को मार्केट फ्रैण्डली बनाने का है। टी.वी. चैनल और एस.एम.एस. भाषा से हिन्दी का कैनवास बढ रहा

है।"[12] वेब मीडिया पर हिन्दी का ग्राफ ऊपर उठ रहा है। उसके कारण अनेक हो सकते हैं। जैसे—

- हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार।
- वेब मीडिया मालिकों का व्यक्तिगत स्वार्थ (धन तथा लोकप्रियता प्राप्त करना)।
- बाजारवाद के अनुसार प्रत्येक वस्त को उत्पाद समझना और येन-केन प्रकारेण उसे बेचना।
- पाश्चात्य प्रभाव विकास के नाम पर आधुनिकता की होड़ में हिन्दी का अंग्रेजीकरण कर देना जो सुविधाभोगी काहिल उपभोक्ता तथा मिडिया —कर्मी के काहिली के कारण हो रहा है।

संचार क्रान्ति के फलस्वरूप हिन्दी को खुला आकाश तो मिला, परन्तु उसमें उन्मुक्त उड़ान भरने के लिए विविध माध्यमों के पंखों की आवश्यकता होगी, जिसके लिए हिन्दी प्रेमी, हिन्दी श्रोता और हिन्दी वक्ता सभी अपने-अपने स्तर पर प्रयासरत हैं। प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी वेब मीडिया को हिन्दी साहित्य और संस्कृति के साथ राजनीति से जोड़ने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि "हिन्दी फेसबुक पर बड़े पैमाने पर युवा लोग लिख रहे हैं। इनमें सुन्दर साहित्य अनुवाद विमर्श आदि आ रहा है। इसमें आक्रामक और पैना लेखन भी आ रहा है। साथ ही फेसबुक पर बड़े पैमाने पर बेवकूफियाँ भी हो रही हैं। साथ ही हिन्दी को केवल साहित्य और संस्कृति तक सिमट कर न रहने बल्कि उस राजनीति से जोड़ते हैं—प्रेस ने जब राजनीति की ओर रुख किया था, तब ही उसे पहचान मिली थी। यही बात ब्लॉगिंग और फेसबुक पर भी लागू होती है। जो लोग लिख रहे हैं, उनकी सुन्दर भूमिका है। लेकिन इस माध्यम को अपनी पहचान तब ही मिलेगी, जब हिन्दी के श्रेष्ठ ब्लॉगर और फेसबक लेखक गम्भीरता के साथ देश के आर्थिक-राजनीतिक सवालों पर लिखें।"[13]

नेट पर हिन्दी का संसार—हिन्दी होम पेज डॉट कॉम—हिन्दी का एक ऐसा पोर्टल है, जिसमें हिन्दी के बारे में सूचना सन्दर्भ समाचार तथा जिसे ज्ञान, शिक्षा और सेवाओं के संसाधन केन्द्र के रूप में विकसित किया जा रहा है। इस बहुआयामी पोर्टल का एक प्रमुख उद्देश्य भाषा के कारण अपनी डिजिटल खाई को पाटना है। इसके विभिन्न विषयों पर केन्द्रित हिन्दी के उपयोगी और महत्त्वपूर्ण वेब स्थल, चिट्ठे और पोर्टल आ रहे हैं, ताकि पूरे विश्व में फैले हिन्दी-भाषी लोग आसानी से इन तक पहँच सकें और इनका उपयोग कर सकें।

विश्व हिन्दी सचिवालय द्वारा अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसके लिए विश्व के हर कोने से हिन्दी कहानी का स्वागत किया गया।

विजेताओं की कहानियाँ सचिवालय की भावी साहित्यिक पत्रिका और वेबसाइट पर प्रकाशित की जाएगी।

डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डॉट हिन्दी शब्दकोशिश डॉट कॉम ऑनलाइन हिन्दी शब्द खेल को दिल्ली के औशिक घोष और विनोद सैनी ने अपने साथियों के साथ मिलकर हिन्दी जगत को एक ऑनलाइन डिजिटल शब्द खेल सौगात दी है : शब्द कोशिश नामक इस वेबसाइट में हिन्दी शब्द खेल को वेब मीडिया साहित्य, संस्कृति, राजनीति से जोड़ने के अलावा हिन्दी में समकालीन चर्चा व जानकारी की कड़ियाँ भी दी गई हैं। इसका मूल उद्देश्य हिन्दी की समकालीन अभिव्यक्ति और प्रयोग को बढावा देना है और हिन्दी भाषा के प्रति रुचि बढ़ाना है।

डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डॉट खुदी को कर बुलन्द इतना डॉट ब्लॉग्स डॉट कॉम ऐसी वेबसाइट है जो मानव के व्यक्तिगत विकास पर शैक्षिक जानकारी हिन्दी में प्रदान करती है। इसमें मानव विकास से जुड़े हर पहलू का विश्लेषण और व्यावहारिक समाधान सुझाए गए हैं। यह ब्लॉग स्टीव पब्लिना की वेबसाइट का हिन्दी अनुवाद है। डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू दम तो मारो दम डॉट ब्लॉग्स पॉट डॉड इन हिन्दी ब्लॉग पर कम्प्यूटर का प्रयोग और कम्प्यूटर से जुड़ी जानकारियों को हिन्दी भाषा में उपलब्ध कराता है। जैसे—कम्प्यटर. वेब. अप्लीकेशन. साफ्टवेयर. डिजिटल तकनीक. इण्टरनेट आदि।

मीडिया साथी डॉट कॉम पर स्वर्गीय धर्मवीर भारती द्वारा पत्रकारिता पर 17 वर्षों पूर्व लिखे गए लेख 'उत्कर्ष और विघटन के आयाम' को महेन्द्र प्रताप सिंह ने उपलब्ध कराया। इसी वेबसाइट पर रणधीर सिंह सुमन 'वेबसाइट पर बाजारवाद के इस दौर में हिन्दी ब्लॉगिंग की भूमिका' लेख में हिन्दी ब्लॉग पर लिखते हैं कि "बाजारवाद के कारण ही आज का पत्रकार निष्पक्ष नहीं रह पाता। लेकिन आम आदमी की इस पत्रकारिता के क्षरण होने के साथ-साथ उसके लिए वैकल्पिक मीडिया के लिए हिन्दी ब्लॉगिंग ने बेहतर माध्यम के तौर पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। ब्लॉगिंग ने आम आदमी की संवेदनाओं और भावनाओं के सुख को फिर से जागृत किया है। मीडिया ने अपनी ताकत नहीं खोई बल्कि ब्लॉग के द्वारा पुनः सँजोई है।"[14]

वेब-मीडिया पर हिन्दी की वैचारिक उपलब्धि के साथ तकनीकी सम्बन्धी भी उन्नति हुई है। जिसके द्वारा हिन्दी प्रेमी सरलता से हिन्दी का वेब जगत में प्रयोग कर अपनी सृजन क्षमता को निर्मित कर सकते हैं। मीडिया साथी डॉट कॉम के ब्लॉग पर गंगा सहाय मीणा यह जानकारी देते हैं—"अब हम किसी वर्ड प्रोसेसर में, ई-मेल में, गूगल सर्च में, वेबसाइट पर मैसेंजर चैटिंग वगैरह सभी जगहों पर यूनिकोड की मदद से हिन्दी लिख सकते हैं। हालाँकि अभी तक हिन्दी की लिपि देवनागरी के सभी वर्णों का मानकीकरण नहीं हो पाया है। इस वजह से कछ वर्ण लिखने में दिक्कत आती है।

कुछ समय पहले तक हिन्दी यूनिकोड का फोनेटिक या ट्रान्सलिटरेशन की-बोर्ड ले लाइट वाला 'बराह' सॉफ्टवेयर सर्वाधिक प्रचलित था। लेकिन इन दिनों भाषा इण्डिया के इण्डिक आई एम ई का जादू फैलता जा रहा है।"[15]

वेब मीडिया पर हिन्दी अपनी सुविधाओं और असुविधाओं के द्वार से गुजर रही है। हिन्दी को अनुसन्धान और शोध की दृष्टि से देखें तो सुविधा कम असुविधा अधिक है। वेब मीडिया पर साहित्य जगत का कार्यान्वयन पूर्व के व्यवस्थित रूप के कारण है, क्योंकि वह पहले से प्रिण्ट मीडिया में उपस्थित थे। परन्तु शोध के लिए नवीन विचार, सामग्री, आलेख, किताबें, संगोष्ठियाँ, चर्चाएँ आदि उतनी सहजता से हिन्दी शोधार्थी को नहीं मिलते, जितने कि अंग्रेजी भाषा के शोधार्थी को। हिन्दी अनुसन्धानकर्ता का पैसा, समय एवं परिश्रम सभी अधिक मात्रा में लगता है। अंग्रेजी शोधार्थी कम समय मे बैठे-बैठे सेज, जेस्टोर, स्पिंगर, ब्लैकवेल, मेनस्ट्रीम आदि ऑनलाइन सेवाओं पर आसानी से अपनी पठन-सामग्री चुन सकता है। यदि नवीनतम सामग्री, संगोष्ठियाँ और आलेख ऑनलाइन पर उपलब्ध हो जाते हैं तो शोधार्थी थोड़ी सहजता अनुभव कर सकते हैं। हिन्दी शोधार्थी का लेखन-कार्य भी प्रभावित होता है, क्योंकि हिन्दी साफ्टवेयर की कमी तकनीकी समस्या और टंकण असुविधा आदि उसके शोध कार्य में बाधक हैं। वेब मीडिया पर हिन्दी अपने गुण और दोष दोनों रूप में दृष्टिगोचर हो रही है। यदि हम थोड़ा भाषा के ज्ञाता और साहित्य एवं संस्कृति के प्रति जागरूक हो जाएँ तो बाधाएँ कम होंगी और यदि ऐसा नहीं होता है तो सभ्यता और संस्कृति दोनों खतरे में पड़ जाएँगे, क्योंकि किसी भी देश की सभ्यता एवं संस्कृति उस देश की भाषा और साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है। रामशरण जोशी हिन्दी मीडिया के बाजारीकरण पर कटाक्ष करते हैं कि "मीडिया जन को जन रहने दें, उसे ग्राहक में तब्दील न करें; भावना पीड़ा-सर्जना और विचार प्रोडक्ट का रूप न ले; त्रासदी को फोर्स बनाकर न बेचा जाए: बाजार रहे. पर बाजारवाद से अलविदा किया जाए।"[16]

वेब मीडिया पर हिन्दी की उपलब्धि किसी वरदान से कम नहीं है। वेब मीडिया ने हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में अहम भूमिका अदा की है। "वेब मीडिया ने हिन्दी रूपी मोती को भारत रूपी सीपी से बाहर निकालकर समस्त विश्व के गले का हार बनाया है।"[17] वेब मीडिया हिन्दी के लिए यह कथन बिलकुल उचित लगता है। हिन्दी भाषा के प्रवाह को वेब मीडिया दिशा प्रदान कर रहा है। उसके रास्ते में आने वाले कण्टकों को हटाना हमारा कर्तव्य है, जिसे दूर करने में हिन्दीभाषी चिन्तक, पत्रकार, विद्वान सभी प्रयासरत हैं। यदि हम अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति सचेत होकर इस कार्य को अंजाम दें तो वह दिन दर नहीं. जब हिन्दी जन-जन की भाषा कहलाएगी।

सन्दर्भ

1 दीवान-ए-सराय 01, मीडिया विमर्श हिन्दी जनपद, रविकान्त और संजय शर्मा वर्ष 2002, पृष्ठ- भूमिका। सराय : नवसंचार पहल, दिल्ली - 54

2 प्रयोजनमूलक हिन्दी–प्रो. रमेश जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ वर्ष 2006।

3 मीडिया और साहित्य–सधीश पचौरी. राज सर्य प्रकाशन. दिल्ली-53. प. 106. वर्ष 1981।

4 दीवान-ए-सराय–भूमिका।

5 बिजनेस स्टैण्डर्ड हिन्दी ब्लॉग।

6 लेख : इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में अपनी भाषा–अनिल चमडिया–कथा देश. जलाई 2003, पृ. 77।

7 मीडिया साथी डॉट कॉम हिन्दी ब्लॉग।

8 लेख : अन्तरिक्ष में डिपार्टमेण्टल स्टोर–अनप सेठी–कथादेश. फरवरी 2004. पृ. 42।

9 मीडिया साथी डॉट कॉम–मीडिया कर्म से जुड़े मुद्दों पर आलेख–महेन्द्र प्रताप सिंह

10 दीवान-ए-सराय ... मास मीडिया और साहित्य लेख, पृ.76।

11 दीवान-ए-सराय ... मास मीडिया और साहित्य लेख, पृ.78।

12 लेख : वैश्वीकरण. मीडिया और हिन्दी–अच्युतानन्द मिश्र कथादेश अक्टबर 2007 पृ.72।

13 मीडिया साथी डॉट कॉम–न्यू मीडिया के रूप में फेसबक की चनौतियाँ–प्रो. जगदीवश्वर चतुर्वेदी–हिन्दी ब्लॉग।

14 मीडिया साथी डॉट कॉम–वेबसाइट पर बाजारवाद के इस दौर में हिन्दी ब्लॉगिंग की भूमिका–रणधीर सिंह हिन्दी ब्लॉग।

15 मीडिया साथी डॉट कॉम–हिन्दी ब्लॉग–गंगा सहाय मीणा।

16 मीडिया और बाजारवाद–रामशरण जोशी. राधाकष्ण प्रकाशन प्रा.लि.. दिल्ली. पृ. 21, 2002।

17 वेब मीडिया और हिन्दी का वैश्वीकरण–हिन्दी वेबसाइट पर जनरल डिब्बा - 14 जलाई. 2012।

भारतीय मूल की प्रकृति प्रदत्त अग्नि-तत्त्व गण प्रधान वनस्पति-अरणि-अग्निमंथ

बाबलाल शर्मा*

"ईशावास्यमिदं सर्वयत्किंच जगत्यां जगतः"।।

(यजर्वेद 40 ।2।

ईश्वर का बनाया हुआ यह चराचर जगत है और इसमें सर्वत्र कण-कण में इसी का वास अर्थात उसी की सत्ता व्याप्त है।। उपनिषद ऋषि के अनसारः—

"यो देवऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमा विवेश,
यो औषधिष यो वनस्पतिष, तस्मै देवाय नमो नमः"।।

(श्वेता.उप. 3 ।6।

अर्थात् जो ईश्वर अग्नि, जल, वायु एवं समस्त विश्व के भूतों भुवनों, पदार्थों, औषधियों, वनस्पतियों आदि तक में जिसकी सत्ता व्याप्त है, उस पर-ब्रह्म-परमात्म देव को नमस्कार है जो समस्त जगत का आत्मा व प्रकाशक है।

उसने ही सर्वप्रथम अपनी ईक्षण शक्ति व प्रेरणा से जीव सृष्टि रचना से पूर्व "स्थावर सृष्टि", जिसके अंतर्गत (जड़-जंगम) पर्वत, समुद्र, झीलें, सरोवर, नदियाँ आदि तथा वन, उपवन, वृक्ष, पौधे लताएँ, झाड़ी, झुंड, गुल्म, उनमें उगने वाले पत्र, पुष्प, फलादि, भूमि से फूटकर निकलने वाली जीवन रक्षक औषधि, जड़ी-बूटियाँ, कंद मूल और भूमि पर उगने वाले घासपात, तृणादि विभिन्न प्रकार के वनस्पतिक औषधि गुण युक्त समस्त जीव जगत के निर्वहन, भरण-पोषण उनकी आवश्यकताओं को दष्टिगत रखते हुए रचना की जिससे समस्त प्राणी समुदाय सुखपूर्वक जी सकें।

शास्त्रों में ऐसा कहा जाता है कि स्थावर सृष्टि वनस्पति जगत में प्रकृति प्रदत्त सर्वप्रथम उन वनस्पति, वक्षों आदि का पथ्वी पर जन्म हआ (अर्थात उत्पत्ति), जिनमें

(सेवा निवत) वन अनसंधान संस्थान देहरादन

"अग्नि-तत्त्व गुण" विशेष रूप से प्रधान थे। अग्नि की प्रतिभा तथा इसकी ओजस्विता इसमें विशेषत मान गए हैं।।

बताते चलें पुरातन काल में जब मानव को अग्नि की उत्पत्ति के संबंध में ज्ञान नहीं था, तब उस काल में पत्थर से पत्थर को रगड़ते हुए, तोड़ते हुए, उससे उत्पन्न हुई चिनगारी से रूई कपास लेकर सूखी घास-पात एकत्र कर जलाते हुए अपने खाना बनाने हेतु तथा तापन व प्रकाश्व अन्यादि कार्यों में सूखी काष्ठ का प्रयोग किया करते थे।। शास्त्रों में स्पष्ट यह भी कहा गया है कि सृष्टि की रचना, उत्पत्ति-कार्य प्रजापति ब्रह्मा ने 'यज्ञ' के द्वारा ही की है। 'यज्ञ' देवताओं की तुष्टि के लिए तथा समस्त प्राणी समुदाओं के हेतु, कल्याणप्रद तथा प्रकृति प्रदत्त शुद्ध स्वच्छ वातावरण को पर्यावरणीय दृष्टिकोण से संतुलित बनाए रखना एक श्रेष्ठतम कर्म मानव के लिए आवश्यक बताते हुए, स्पष्ट शास्त्रों में निर्देश भी दिया गया है कि प्रकृति से अनावश्यक छेड़छाड़ न करें, छेड़छाड करने, अतिक्रमण, दोहनादि के दष्प्रभाव से, कपित होकर, अहितकर हो जाती है।।

काष्ठ में अग्नि छिपी हुई है प्रयोग कर जलाकर देख लीजिए, अतः 'यज्ञ' में इसका अति विशिष्ठ महत्त्व परंपरागत चला आ रहा है, क्योंकि 'यज्ञ', सूखी समिधा (काष्ठ) के अभाव में संपन्न नहीं हो सकता। अतः यज्ञ कार्य हआ, और काष्ठ कारण हआ।।

शास्त्रोक्त श्रति भी स्पष्ट कहती हई प्रमाणित करती हैः—

"तिलैषु तैलम दधनीव सर्पिसवः स्रोत स्वरणीषु चाग्नि,
एनामात्मा आत्मनि गहयतैङसौ सत्यनैनं तपसा यो अनपश्यति"।।

अर्थात् जिस प्रकार तिलों में तेल, दधी (दही) में घी, स्रोतों में जल और अरणियों (काष्ठों) में "अग्नि" छिपी रहती है (प्रयोग मंथन कर देख लीजिए) इसी प्रकार, वह ईश्वर भी सब प्राणी-अप्राणी जड़-चेतन जगत में छिपा हुआ (प्राणी समुदाय के हृदय में) चेतन आत्मा प्रकाशक तथा अप्राणी (जड़-जंगम) में सत्ता के रूप में विद्यमान (व्याप्त) है।। शास्त्रों में इसी कारण "अग्नि" को विशिष्ट गुण तैजस, प्रकाशक युक्त होने के कारण उर्ध्व गतिमान होने से, ईश्वर का रूप प्रतिनिधि मानते हुए, सर्वप्रथम सबका प्रकाशक (जगत का), बहत महत्त्व दिया गया है और इसीलिए ऐसा कहा भी गया हैः—

"ऊँ अयंत इध्म आत्मा जातवेदस्तेन इध्म स्वच वर्धस्व इद्धय वर्धय"।।

(आश्वलायन गह्य सत्र—1 ।10 ।11।

हे अग्नि देव! आप प्रदिप्त हों और हमें भी प्रदिप्त करो। जो गुण आप में हैं, उन्हें हम धारण करें।। इस वेद मंत्र में "अग्नि" को ईश्वर की 'संज्ञा' दी गई है तथा

ऐसी मर्मस्पर्शी प्रार्थना वैदिक ऋषियों ने यज्ञायोजन करते समय प्रजापति ब्रह्मायज्ञ के प्रमख देवता (पुरोहित) से सर्वकल्याण हेतु की गई है।।

बताते चलें अग्नि का विशिष्ट गुण तैजस, प्रकाश, उष्णता है।। अतः मनुष्य में जीवन को सार्थक, सफल बनाने हेतु तेजस्विता, हृदय में स्वच्छता, पवित्रता, वाणी में सत्यता, मधुरता होनी चाहिए, इनके अभाव में जीवन नीरस ही रहेगा उन्नतशील एवं सार्थक नहीं हो सकता।। 'अग्नि' जहाँ-जहाँ प्रज्वलित होती है वहाँ-वहाँ उसका प्रकाश फैलता चला जाता है और अंधकार दूर होता जाता है। अग्नि सदैव उर्ध्वगामी ऊपर की ओर चलने वाली, प्रकाश करते जाने वाली होती है।

अतः 'अग्नि' की ही सर्वप्रथम पूजा, यज्ञादि अनुष्ठान में देव पूजन धूप-दीप प्रज्वलित करते समय तथा अन्नादि पकाने के उपरांत अन्नादि भाग अग्नि को अर्पण या आहुति के रूप में प्रदान करने की परंपरा परातन काल से भारतीय संस्कति में चली आ रही है।

शास्त्र में व्यवहार में काम में आने वाली 'अग्नि' के पाँच रूप होते हैं जो इस प्रकार हैं—(1) ब्राह्म (2) प्राजापत्य (3) ग्राईस्थ्य (4) दक्षिणाग्नि (5) क्रव्यदाग्नि।।

ब्राह्म अग्नि यज्ञ में 'आरणी मंथन' से मंत्र द्वारा प्रकट होते हैं. ये 'आहवनीय' 'अग्नि' है।। (साभार—हिंदू संस्कृति अंक—511)

'अग्नि का कार्य है प्रकाश करना और अंधकार को दूर करना। प्रकाश—ज्ञान है और अंधकार—अज्ञान है।। (1) इसीलिए उपनिषद् की प्रार्थना में भी ईश्वर से ऋषि जन कहते हैं—"तमसो मा ज्योतिर्गमाय" (2) हे अग्नि प्रकाश स्वरूप परमेश्वर अज्ञान को दूर कर हमें प्रकाश की ओर ले चलो।। अर्थात ज्ञान मार्ग की ओर चलो. यानी अंतःस्थल में ज्ञान का प्रकाश कराओ।।

श्रीमद्भगवद् गीता में यह कहते हुए योगीराज श्रीकृष्ण ने 'अग्नि' को ही उसके विशिष्ट गुण-संपन्न होने से ही महत्ता दी हैः—"ज्ञानाग्नि सर्वकर्मणि भष्मसात्कुरूते तथा"।। (गीता 4।36) जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को सर्वथा भस्म कर देती है ऐसे ही ज्ञान रूपी अग्नि भी (अंतःस्थल में) प्रज्वलित हो जाने पर समस्त प्रकार के संचितमलीन संस्कारों, वासनाओं, इच्छाओं, कार्मिक मलों-दोषों आदि को भस्म कर देती है और तदुपरांत जीवात्मा सब प्रकार के कष्टों दुःखों आदि से मुक्त हो जाता है।। अतः अपने अंतःहृदय को स्वच्छ करते हुए ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो।।

'अग्नि तत्त्व', उसका महत्त्व तथा विशिष्ट गुण क्या है? संक्षेप में एक परिचय के रूप समझाने हेतु लेखक का एक प्रयास मात्र है।।

भारतीय मूल का "अग्नि तत्त्व" विशिष्ट एवं औषधि गुण युक्त वनस्पति वृक्ष—'अरणी' जिसे पुरातन काल में संस्कृत में अग्नि-मंथा के नाम से जाना जाता है तथा प्राचीन सद्ग्रंथों में भी जिसका उल्लेख मिलता है, यह लेख विषय संबंधित महत्त्वपर्ण तथ्यों व नवीन जानकारियों सहित प्रस्तत है।।

"अरणि" (अग्नि मंथा) एक सामान्य परिचयः— यह एक बड़ी झाड़ीनुमा अथवा छोटा वृक्ष प्रायः उत्तर भारत गंगा के मैदानों उत्तर प्रदेश. बिहार. बंगाल. उडीसा. दक्कन (दक्षिण भारत) तक में भी पाया जाता है।

वृक्ष के भाषायी भेद से नामः— संस्कत—अग्निमंथः. अग्निमंथनीः. हिंदी. गजराती, मराठी—'अरणि' तमिळ में तरकरी।।

भाव प्रकाश निघंट में इस वनस्पति वक्ष के विषय में ऐसा कहा गया हैः—

"अग्नि मंथो जयः सस्यात श्री पर्णी गणिकारिका।
जया जयंती तर्कारीनादेयी वैजयंतिकाः"।।

(नाम—अग्निमंथः जय, श्रीपर्णी गणिकारिका. जया. जयंती. तर्कारी. नादेयी. वैजयंतिका, ये अरणी के संस्कृत—नाम हैं)।।

भाषा भेद से नाम भेदः—हिंदी-अरनी, अरणी, गानयारी, अगेथ; बंगाली-गणिर. आगगंत; मराठी-थोर, अरेण; गुजराती-अरणी, कन्नड़-नरूबल; तैलगु-नेलीचेटट।।

अरणी के औषधि गुणः—अरणी उष्णवींय, चरपरी, कड़वी कसैली. भधर. अग्निवर्द्धक और सूजन कफ, बात तथा पांडु रोग हरने वाली है।

अरणी वनस्पति वृक्ष का लैटिन नाम—क्लेरोडेंड्रोन फ्लामोइडिस (Clerodendron Phlomoides) है।। अरणी सर्वज्ञात वृक्ष है तथा भारत में प्रायः सर्वत्र पैदा होता है। इसके पेड़ काफी ऊँचे होते हैं। इसके पत्ते किंचित नुकीले और कोमल होते हैं। पुष्प सफेद होते हैं इसमें से बहुत गंध निकला करती है। वसंत ऋतु में इन पर पुष्प लगते है आते हैं। पत्तों से भी एक सुंदर मोहक गंध आती है। डालियाँ नीचे झुकी रहती हैं। इसकी लकड़ी में पीलापन अधिक पाया जाता है। इसकी दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से "आग निकलती है", अतः इसका नाम 'अग्नि मंथः' है।। यह (वनस्पति) दशमूल की प्रधान औषधि है। गर्मी को देना इसका खास लक्षण है।। यदि इसका अर्क जीर्णज्वर में दिया जाए. तो ताप क्रम बढ जाया करता है।। (साभार—भाव प्रकाश निघंट)।

अरणी वनस्पति वक्ष—वैज्ञानिक वनस्पतिक नाम. कलः—क्लेरोडेंडोन फ्लामोइडिस लिन।। (Clerodendron Phlomoides Linn-Family- Verbnaceae) वनस्पति विषय संबंधित विद्वजनों ने 'अरणी' (C. Phlomoides Linn) वनस्पति के गण लक्षण, इसी कुल की प्रजाति-प्रेमना मुकरोनाटा (Premna Mucronata Roxb) से समान रूप से मिलते-जुलते होने तथा इसे भी—'अग्निमंथः' की ही वैरायटी (Variety) अग्निमंथः नाम होने से भी, व्यवहार किया गया है। दोनों की लकड़ियों को अलग-अलग परस्पर रगड़ने से 'अग्नि' भी उत्पन्न होती है तथा उष्णता उत्पन्न करना दोनों का कार्य है। अतः इसी कारण इन दोनों को 'अग्निमंथ' के नाम से शास्त्रों में जाना व

पकारा जाता है। दोनों की काष्ठ भी, पीलेरंग की होती है, उनमें पीलापन होता है।

प्रसिद्ध विश्वविख्यात वृक्ष काष्ठ वैज्ञानिक जे.एस. गैंबल-ए मैनुअल ऑफ इंडियन टिंबरस—1922. में—Premna Mucronata Roxb, के विषय में लिखते हैं:—Bark-Light-dark or reddish grey. Wood hard a good fuel, used for lighting fires by friction. Vern:- Agniun (ag, fire). A small tree. Sub-Himalayan tract and outer ranges extending north west as far as Chenab and ascending to 3500ft.

बताते चलें शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि यज्ञ प्रेमी लोग—'अरणी मंथन', सूर्यकांतमणि आदि के द्वारा 'अग्नि' प्रज्वलित किया करते थे।। हिंदू सांस्कृतिक सद्ग्रंथों वेद, पुराण, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रामचरित्रमानस एवं आयुर्वेद ग्रंथों में 'अरणी', अग्निमंथः के विशिष्ट गण संपन्न होने से उसके प्राचीन वनस्पति होने का उल्लेख प्रमाण रूप में मिलता है।

इस सुगंधित अरणी वनस्पति मूल का क्वाथ (काढ़ा) ग्राही होने से पौष्टिक के रूप में विकल्प है।। इसके पत्र, मूल और छाल औषध रूप में प्रयोग में लाए जाते हैं। यह एक प्रसिद्ध भारतीय मूल की "दशमूलारिष्ठ" आयर्वेद औषधि है।। चरक संहिता. सश्रत संहिता में भी इसका उल्लेख मिलता है।

प्रस्तुत लेख में विषय संबंधित दी गई जानकारी प्रमाणित सदग्रंथों से लोकहित में ज्ञान कराने हेतु आंशिक संकलन है।

साभारः— चयनित प्रमाणित भारतीय सद्ग्रंथ संदर्भसची

(1) यजुर्वेद ऋचा 40 ।2, ईश्वास्योपनिषद

(2) श्वेताश्वर उपनिषद् 3 ।6

(3) वनस्पति से दीर्घ आयु

(4) आश्वलापन गृह्य सूत्र 1 ।10 ।11

(5) श्रीमद्भगवद् गीता—4 ।37

(6) फ्लोरा नार्थ वैस्ट एंड सैंटल इंडिया. डी. ब्रांडिस 1922

(7) भाव प्रकाश निघंटु

(8) ए मैनुअल ऑफ इंडियन टिंबर्स, जे.एस. गैंबल—1922

(9) यज्ञ का विज्ञान—आचार्य श्रीराम शर्मा।

(10) हिंदू संस्कृति अंक—511—कल्याण।

(क) 'सरस्वती' से पूर्व का काल (सन् 1900 ई. से पूर्व)

(ख) 'सरस्वती' के प्रकाशन का पश्चात् (सन 1900 से 1916 ई.)

2. प्रेमचंद युग (सन् 1937 से अद्यतन)

3. प्रेमचंदोत्तर यग (सन 1937 से अद्यतन)

(क) स्वातंत्रय पूर्व कहानी (सन् 1937-1947)

(ख) स्वतंत्रयोत्तर कहानी (सन 1947 से अद्यतन)

(ग) नई कहानी

(घ) समकालीन कहानी

प्रेमचंद—पूर्व युग में 'सरस्वती' के प्रकाशन से पहले का कहानी-इतिहास उन्नीसवीं शती में हुए कथा-प्रयत्नों का इतिहास है, वस्तुतः वे कथात्मक प्रयास-भर हैं, कहानी नहीं। उन्नीसवीं शती का प्रारंभ होते-होते सन् 1803 ई. के आसपास (यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल उसका रचना समय सन् 1798 से 1803 ई. के बीच कभी ....[1] मुंशी इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतनी की कहानी' (पूरा नाम 'उदैभान चरित या रानी केतनी की कहानी') लिखी जो बहुत समय तक पहली कहानी के रूप में मान्यता प्राप्त रही, किंतु यह कहानी अपने स्वरूप-विधान (फॉर्म) में कहानी की अपेक्षा उपन्यास के अधिक निकट है। वस्तुतः हिंदी गद्य का वह ऐसा समय है जब प्रायः बीसवीं शती के प्रारंभ तक 'उपन्यास' और 'कहानी' का रूपगत अंतर स्पष्टतः स्थापित नहीं हो पाया था।[2] कहानी के एकायामी होने का चरित्रा उस समय तक उभर कर नहीं आ सका था इसीलिए लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' (सन् 1803 ई.) और सदल मित्र के 'नासिकेतोपाख्यान' (रचनाकाल नगभग 1803 ई.) की चर्चा भी कथात्मक प्रयासों में की जाती है, किंतु ये तो पौराणिक धारा की कविताओं—श्रीकृष्ण कथा—का एकत्रीकरण थीं। किंतु लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई, श्रीकृष्ण की कथा हिंदी भाषी प्रदेशों में उसके माध्यम से घर-घर में पहुँचीं। इन सब प्रयत्नों ने हिंदी कहानी को पीठिका अवश्य प्रदान की. किंत निश्चित रूप से सभी कहानी का जन्म काफ़ी दूर था।

इसके पश्चात् उन्नीसवीं शती के प्रायः अंत के 20-25 वर्षों में कुछ ऐसे कथात्मक प्रयास होते हैं जो निश्चित रूप से कहानी के आधुनिक रूप से बहुत निकट भी आ पहुँचते हैं या कहें कि ये हिंदी कहानी के जन्म के पूर्वाभास हैं। सन् 1880 ई. में मुंशी नवलकिशोर द्वारा संपादित 'मनोहर कहानी' नामक संकलन प्रकाशित हुआ तथा इसी प्रकार के दो और प्रयत्न हुए, राजा शिवप्रसाद 'सितारे सिंद' ने 'वामा मनरंजन' का प्रकाशन 1886 ई. में और पं. अम्बिकादत्त व्यास ने 'कथा-कुसुम कलिका' का प्रकाशन 1888 ई. में कराया। इनके अतिरिक्त हास्य-कथाओं का एक संकलन 'हास्य रतन' 1886 ई. में चंडीप्रसादसिंह द्वारा प्रकाशित कराय गया। ये सभी कहानियाँ एक ओर तो नीति-परक भी आई है। इन्हें बहुत-से लेखकों से लिखवा कर संपादित किया गया है। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने अलीगढ़ से प्रकाशित 'शिलापंख' पत्रिका में 1976 ई. के जुलाई तथा सितंबर अंकों में प्रकाशित 'जमींदार का दृष्टांत' (लेखक रैवरेंड जे. न्यटन. प्रकाशन वर्ष 1871 ई.) तथा 'छली अरब की कथा' (लेखक

कोई अनाम ईसाई पादरी, प्रकाशन वर्ष 1893 ई. है) कहानियों को हिंदी की पहली कहानी/कहानियों के रूप में प्रस्तावित किया है।[3] किंतु इन कहानियों में उपदेशात्मकता का ऐसा स्वर है कि ये नीति कथाओं के निकट जा पड़ती हैं। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए ऐसी कितनी ही कहानियाँ इन कहानियों से भी बहुत पहले लिखीं थीं। 1799 ई. में कलकत्ते के निकट श्रीरामपुर में (जो अब कलकत्ते का ही एक उपनगर है) डेनिस मिशन की स्थापना के साथ ही धर्म—प्रचार के लिए लिखी जाने वाली ऐसी कथाओं का क्रम प्रारंभ हो जाता है। डॉ. अमिताभ ने सुदर्शन की जिस 'हार की जीत' कहानी पर उसका प्रभाव माना है या उसे बिलकुल अनुकरण ही कह दिया (मुझे एक व्यक्तिगत-पत्रा में ऐसा उन्होंने लिखा था), वह कहानी 'छली अरब की कथा' से 'निर्वाह' (ट्रीटमेंट) में बिलकुल अलग है। दूसरे 1871 या 1893 ई. के पश्चात् हिंदी कहानी का अव्याहत क्रम भी अभी प्रारंभ नहीं हुआ, इसीलिए 'जमींदारी का दष्टांत' या 'छली अरब की कथा' को हिंदी की प्रथम कहानी कहीं जा सकता।

हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के 'राजा भोज का सपना', भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत माना जाने वाला 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' तथा राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' जैसी रचनाओं का भी उल्लेख किया जाता रहा है। वस्तुतः ये रचनाएँ कहानी नहीं हैं, अपितु, कहानी और निबंध के बीच की रचनाएँ हैं। इन्हें स्वप्न-कथा भी नहीं माना जा सकता। प्रसंगात् हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि अधिकांश ग्रंथों में विद्वानों ने 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' को भारतेंदु कृत माना है, जबकि यह भारतेंदु मंडल के ही लेखक बाबू तोताराम का ही निबंध है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इसे बाबू तोताराम का ही निबंध माना है जो 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में छपा था।[4] शुक्ल जी के अतिरिक्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यह शंका प्रकट की है कि 'राजा भोज का सपना' भी कदाचित् राजा शिवप्रसाद की रचना न हो। "राजा सिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की लिखी बताई जाने वाली कहानी 'राजा भोज का सपना' और भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखित समझी जाने वाली कहानी 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' कदाचित् आधुनिकता के लक्षणों से संपन्न मानी जा सकती है।"[5] फिर पता नहीं कैसे 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' को भारतेंदु की ही रचना माना जाता रहा है। सबसे बाद में लिखे गए डॉ. नगेंद्र संपादित इतिहास तक में यही उल्लेख है। उन्नीसवीं शती के अंत तक हुए ये कथा-प्रसास हिंदी कहानी के जन्म के लिए महत्त्वपूर्ण पीठिका प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः आधुनिक हिंदी कहानी का वास्तविक समारंभ 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म, सन् 1900ए के वर्ष से ही माना जा सकता है। इसलिए नहीं कि 'सरस्वती' में 1900 ई. में प्रकाशित पं. किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' ही हिंदी की पहली कहानी है, अपितु इसलिए कि 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हिंदी कहानी अबाध

गति के विकास के राजपथ पर चल पड़ी। उसके प्रकाशन के साथ 'छत्तीसगढ़ मित्रा', 'सुदर्शन', आदि पत्रिकाओं के माध्यम से कहानी को एक वृहत्तर मंच प्राप्त हुआ और इस विधा के लेखन में विशेष सक्रियता आ गई। हिंदी की पहली कहानी के रूप में जिन कहानियों का नाम प्रस्तावित किया जाता रहा है, वे मुख्यतः निम्नस्थ हैं—

1. 'इंदुमती'	पं. किशोरीलाल गोस्वामी	1900 ई.
2. 'मन की चंचलता'	माधवप्रसाद मिश्र	1900 ई.
3. 'प्लेग की चुड़ैल'	मास्टर भगवानदास	1902 ई.
4. 'ग्यारह वर्ष का समय'	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	1903 ई.
5. 'पंडित और पंडितानी'	गिरिजादत्त वाजपेयी	1903 ई.
6. 'दुलाई वाली'	श्रीमती राजेंद्रबाला घोष. बंग महिला	1907 ई.
7. 'ग्राम'	जयशंकर प्रसाद	1910 ई.

इन सभी के विषय में इतिहास और शोध-ग्रंथों में पर्याप्त कहा जा चुका है। हमें केवल यह कहना है कि 'इंदुमती' तथा 'मन की चंचलता' उन्नीसवीं शती के अंत में हुए ऐसे कथा-प्रयत्न हैं जिनमें हिंदी कहानी का जीवन का नवीन रूप निश्चय ही दिखाई देने लगता है, किंतु वास्तविकता अर्थों में हिंदी की पहली कहानी बीसवीं शती के प्रारंभ में 1901 ई. मे ही आई और तभी से 1901 ई. 1902 ई. 1903 ई. में ऐसी कथा-रचनाएँ आईं जो निश्चित रूप से नए ढंग की कहानी या कहें आधुनिक कहानी थी। जिन कहानियों में उपदेशात्मकता, नीति-कथन की बात मिलती है उन्हें एकदम से नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि हमारी कहानी का आशीर्वादी स्वर तो बहुत बाद तक रहा है। 1901 ई. में छत्तीसगढ़ मित्रा' में माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी-भर मिट्टी' नामक कहानी ही हमारी दृष्टि में हिंदी की पहली कहानी है।[6] अद्यावधि शो-चर्चाओं में डॉ. बच्चनसिंह ने किशोरीलाल गोस्वामी की 'प्रणयिनी परिणय' (प्रकाशन समय 1887 ई.) को हिंदी की पहली कहानी घोषित किया है[7], किंतु इस कथा की प्रस्तुति और प्रेरणा में संस्कृत कथाओं एवं श्लोकों की छाया स्पष्ट ही इसे हिंदी की मौलिक कहानी का स्वरूप ग्रहण नहीं करने देती। देवीप्रसाद वर्मा माधवराव सप्रे को हिंदी की प्रथम कहानीकार तो सही सिद्ध करते हैं, किंतु उसी क्रम में 'एक टोकरी-भर मिट्टी' से पहले 1900 ई. में प्रकाशित उनकी 'सुभाषिनी रत्न' (जनवरी, फरवरी 1900 ई. में) नाम से प्रकाशित दो कहानियों को भी प्रकाशित देवीप्रसाद वर्मा उनकी कहानी ही मानते हैं।[8] ये कहानियाँ भी कहानी नहीं, संस्कृत के सुभाषितों को सिद्ध करने के लिए गढ़ी गई कथाभर हैं, उनके लोक-कथा का रंग भी देखा जा सकता है। इसलिए हम केवल उनकी 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को ही कहानी स्वीकार करना चाहेंगे। देवीप्रसाद वर्मा का 'एक टोकरी-भर मिट्टी' के विषय में यह कथन भी बहुत बड़ी फ़तवेबाजी और अत्यक्तिपर्ण है कि "सातवें दशक में कहानी का जो स्वरूप आज

हमारे सम्मुख है, उसके सभी बीज इस कहानी में स्पष्ट हैं...नई कहानी के सबल पक्षधर कमलेश्वर की वाणी सीमा तक प्रस्तुत कहानी में मिलती है।"[9] ऐसा कह कर पता नहीं देवीप्रसाद वर्मा कमलेश्वर को पीछे खींचना चाहते हैं या माधवराव सप्रे को आगे धर पटकना चाहते हैं। सातवें दशक की हिंदी की जिस कहानी-विधा को उसकी गुणवत्ता में विश्व-स्तर की कहानी के सम्मुख सगर्व रखा जा रहा है, उसे देवीप्रसाद वर्मा हिंदी की पहली कहानी में ही बीज रूप में पा रहे हैं। किसी कहानीकार को हिंदी का प्रथम कहानीकार सिद्ध करने के लिए ऐसे अनुत्तरदायित्वपूर्ण कथनों की आवश्यकता नहीं है। माधवराव सप्रे निश्चय ही उस समय बहुत सक्रिय रूप से लिख रहे थे। 1915 तथा 1916 ई. तक की 'सरस्वती' में उनके कई लेख प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार हिंदी कहानी में उनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

किंतु हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में, अर्थात् 1915-16 तक, कुछ और महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और नाम हैं जिनका समुचित उल्लेख नहीं हुआ हैं यह चर्चा इसलिए भी आवश्यक है हिंदी के कुछ वरेण्य विद्वानों ने हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में कुछ भयंकर भूलें की हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "किशोरीलाल जी की इस कहानी ('इंदुमती') के पश्चात् कुछ उपदेशमूलक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या-बहार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्यानवे का फेर', ऐसी ही कहानियाँ थीं।" "वृंदावनलाल वर्मा की पहली कहानी 'राखीबंद भाई' 1907 ई. में छपी और मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' भी इसी समय प्रकाशित हुई।"[10] किंतु मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्नानवे का फेर' तथा 'नकली किला कहानी हैं ही नहीं, ये तो कविताएँ हैं जिनमें इतिवृत्तात्मक रूप में घटना-प्रसंग तो हैं, किंतु 'कहानी' उन्हें किसी भी दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। 'निन्नानवे का फेर' का प्रारंभ इस रूप में होता है, "एक सुंदर ग्राम में था वैश्य एक धनी कहीं।" गुप्त जी जिस प्रकार की कविताएँ उस समय विधि कथा—प्रसंगों पर लिख रहे थे, ये उसी प्रकार की कविताएँ हैं।[11] वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' को द्विवेदी जी 1907 ई. में छपी बताते हैं, जबकि यह 1909 ई. की सरस्वती' के सितम्बर अंक में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार द्विवेदी जी 'इंदु' का प्रकाशन 1911 ई. से हुआ मानते हैं जबकि इसका प्रकाशन 1907 ई. में आरंभ हुआ (कुछ लोगों ने इसका प्रारंभ 1904 ई. में भी लिखा है)।

फिर सन् 1901 ई. के काल-क्रम की ओर लौटने पर 'सुदर्शन' पत्रिका के संपादक पं. माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' कहानी पर ध्यान जाता है जो 1901 ई. के 'सुदर्शन' में छपी थी। इसके पश्चात् मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902 ई.) का नाम आता है। 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी बड़ी सरल और पठनीय है। उसका अंत लोक-प्रचलित धार्मिक कथाओं की तरह होता है—"अब ईश्वर की कृपा से जैसे मेरे दिन लौटे हैं वैसे ही सबके लौटें।" कदाचित इसीलिए इसकी ओर

विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यही स्थिति 1903 ई. में प्रकाशित 'पंडित और पंडितानी' की भी रही है। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'इंदुमती' (1900 ई.) के पश्चात् 1903 ई. में प्रकाशित अपनी 'ग्यारह वर्ष का समय' पर ही आकर रुकते हैं। इन सभी कहानियों 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा 'दुलाई वाली' पर बहुत कुछ लिखा गया है, इस पिष्ट-पेषित चर्चा को छोड़ हम आगे बढ़ते हैं।

'सरस्वती' मार्च, 1906 ई. के अंक में सूर्यनारायण दीक्षित ने 'चंद्रहास का अद्‌भुत उपाख्यान' शीर्षक कहानी लिखी जिसे उन्होंने स्वयं 'जैमिनीपुराण' के आधार पर बताया है, किंतु अपनी प्रस्तुति में यह कहानी शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी के निकट लगती है। बंग महिला की प्रसिद्ध मौलिक कहानी 'दुलाई वाली', 'सरस्वती', मई 1907 ई. के अंक में प्रकाशित हुई थी, किंतु इस मौलिक कहानी को लिखने से पहले बंगला कहानियों के अनुवाद प्रस्तुत करने में वे अपनी भाषा-शैली को माँज रही थीं। इन अनुवादों में भाषा का प्रवाह और कथन-भंगिमा दर्शनीय है। 1906 ई. की 'सरस्वती' के अप्रैल अंक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दान-प्रतिदान' तथा इसी वर्ष अपनी माँ श्रीमती नीरदवासिनी घोष की 'हस्तलिखित कहानी' 'कुंभ में छोटी बहू' का वे अत्यंत सुंदर अनुवाद प्रस्तुत करती हैं। जून, 1907 ई. की 'सरस्वती' में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की कहानी 'सचाई का शिखर' प्रकाशित हुई जिसे लेखक ने लोक-कथा पर आधारित कहानी बताया है। इस कहानी का महत्त्व इसलिए भी ज़्यादा है कि यह इससे पूर्व अपने समय के प्रसिद्ध पत्रा 'मार्डन रिव्यू' में इसी वर्ष के अप्रैल अंक में 'शेखचिल्ली' नाम से प्रकाशित हुई थी। 'सरस्वती' संपादक का इसे दुबारा प्रकाशित करना ही प्रमाणित करता है कि यह कितनी प्रभावी हास्य कहानी है। वस्तुतः भले ही 'सचाई का शिखर' का आधार लोक-कथा रही हो, किंतु अपनी प्रस्तुति में यह बिलकुल नई है।

वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'राखीबंद भाई' (1909 ई.) को प्रथम ऐतिहासिक कहानी माना जाता रहा है, यह कहानी वृंदावनलाल वर्मा की प्रथम कहानी तो है, किंतु हिंदी की प्रथम ऐतिहासिक कहानी नहीं। 'सरस्वती' के अक्तूबर 1907 ई. के अंक में लक्ष्मीधर वाजपेई की 'तीक्ष्ण छुरी' नामक कहानी प्रकाशित हुई, निश्चय ही यह ऐतिहासिक कहानी का समारंभ है। इस कहानी में राजपूताने के राठौर वंश की एक घटना को आधार बनाया गया है। कहानीकार स्पष्टतः समय की बताता है कि यह घटना 1634 ई. की है। यह राठौर राजा सिंह के ज्येष्ठ पुत्रा उमराव सिंह की कहानी है जो देश-प्रेम, वीरता तथा शौर्य का भाव जगाती है। अपनों के विश्वासघात द्वारा ही हमारे वीरों को पराजय का मुँह देखना पड़ा है, यह इस कहानी का सहज निष्कर्ष है। शाहजहाँ के दरबार में वीर उमराव सिंह अपने ही साले अर्जुन के विश्वासघात के कारण मारा जाता है। यह कहानी अपने शिल्प, कथा-प्रवाह, औत्सुक्य की रक्षा आदि ऐसे गुणों से भरपूर है जैसी उस युग की ऐतिहासिक कहानियाँ होती थीं। इसे कदाचित

लेख समझ कर हिंदी कहानी की चर्चा में छोड़ दिया गया था, किंतु अपने रूपबंध में यह पूरी तरह कहानी ही है। लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'नाना पड़नवीस' (जून, 1909 ई. 'सरस्वती') पर भी लिखा, किंतु वह लेख-मात्रा है, कहानी नहीं। ऐतिहासिक कहानी के क्रम में ही 1907 ई. में 'सरस्वती' के मार्च अंक में 'आख्यायिका' शीर्षक से रामजीलाल शर्मा की कहानी शर्मा की कहानी को परिगणित किया जाना चाहिए जिसमें इतिहास के साथ जनश्रुति को भी कहानी का आधार बनाया गया है। इसमें संस्कृत कवि भारवि की कहानी है। इसे भी जनुश्रुति पर आधारित ऐतिहासिक कहानी ही माना चाहिए। इसके पश्चात् वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' का स्थान आता है। यह बात सही है कि बाद में वृंदावनलाल वर्मा ही ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में प्रख्यात हुए, लक्ष्मीधर वाजपेयी या रामजीलाल शर्मा नहीं। 'सरस्वती' के अक्तूबर, 1910 ई. के अंक के वृंदावनलाल वर्मा की ही 'तातार और वीर राजपूत' कहानी प्रकाशित इसलिए नहीं कि उन्होंने उस समय बहुत कहानियाँ लिखीं, अपितु इसलिए हैं कि उन्होंने आधुनिक ढंग की कहानी लिखने के लिए दूसरों को प्रेरित किया। सत्यदेव जी शिकागो, अमेरिका में रह रहे थे और वहाँ के जीवन संबंधी परिचयात्मक लेख, यात्रा-विवरण, विभिन्न व्यक्तियों से भेंट के विवराणात्मक लेख निरंतर 'सरस्वती' में प्रकाशित करा रहे थे। कहानी तो केवल उनकी 'कीर्ति कालिमा' को ही कहा जा सकता है जो अगस्त, 1908 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी भी अमेरिकी जीवन की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। इससे पूर्व उनकी अप्रैल से जून को चार अंकों में (1908 ई. में ही) एक लंबी रचना प्रकाशित हुई 'आश्चर्यजनक घंटी', किंतु इसे कहानी नहीं कहा जा सकता। यह एक लंबा लेख ही है। एक अंक में इस आश्चर्यजनक घंटी का चित्रा भी छापा गया है। कहानी के प्रारंभिक उन्नायकों में उनका महत्त्व इस रूप मं है कि उन्होंने दूसरे लोगों को आधुनिक ढंग की कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया। शिकागो में रहते हुए ही 1909 ई. की 'सरस्वती' में विज्ञापन देकर अपने छात्रों के लिए स्वर्णपदक उपहार-स्वरूप रखा गया था (ध्यान रहे कि उस समय पचास रुपए कितनी बड़ी चीज़ थी)। किंतु कोई भी कहानी नहीं पहुँची। केवल एक 'निबंध' प्रदत्त विषय पर किसी छात्रा ने भेजा। किंतु इससे निराश न हो कर, फिर मार्च, 1910 ई. की 'सरस्वती' में उपहार मिलेगा शीर्षक से उन्होंने विज्ञप्ति दी और 25 मई 1910 ई. तक कहानियाँ माँगी गईं। अबकी बार यह प्रतियोगिता केवल छात्रों के लिए नहीं थी, इस बार कोई शर्त छात्रा होने की नहीं थी। "जिस किसी का हृदय भारत के सामाजिक अन्याय देख कर द्रवीभूत हुआ हो, वही लेखनी उठाए और एक मर्मभेदी कथा लिख डाले। कथा छः हजार शब्दों से कम और आठ हज़ार से अधिक न हो और वाक्य आम बोलचाल के हों।" आगे इसी विज्ञप्ति में यह भी कहा गया 'छोटी कथा' के संबंध में इतना बतला देना ज़रूरी है कि जैसी 'मार्डन रिव्यू' में कहाएँ टिप्पणी है। इससे कहानी के संबंध में उस समय की युग-रुचि का पता

चलता है। ध्यातव्य है कि हिंदी कहानी में अभी प्रेमचंद नहीं आए थे, किंतु उनसे पूर्व ही 'सामाजिक अन्याय' जैसे विषय पर संक्षिप्त-सी (शब्द-सीमा दे दी गई है) और 'आम बोलचाल' की भाषा में कहानी की माँग की गई है। साथ ही एक सूत्रा और मिलता है कि जैसी कहानियाँ 'मार्डन रिव्यू' के प्रत्येक अंक में छपती हैं। 'माडर्न रिव्यू' के अंकों की फाइल देखने का सुयोग अभी हमें नहीं मिल सका है, किंतु ऐसा लगता है कि उसमें हिंदी की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रारंभिक कहानियाँ उपलब्ध हो सकती हैं।

1910 ई. हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष काशी से प्रकाशित 'इंदु' के अगस्त अंक (कला-1, किरण-2, भाद्र 1967 वि.) में जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई, जिसे हिंदी की पहली कहानी का गौरव भी कुछ लोगों द्वारा दिया गया। हिंदी कहानी में प्रसाद का आगमन का एक धारा का प्रवर्तक करता है, जिसे 'प्रसाद संस्थान' (प्रसाद स्कूल) की कहानी कहा जाता है, इसे वैयक्तिक रोमान या भावात्मक कहानी-धारा भी कहा गया। 'ग्राम' भले ही हिंदी की प्रथम कहानी न हो, किंतु समस्त हिंदी कहानी के इतिहास में और प्रसाद की अपनी कहानियों में भी यह ऐसा मील-स्तम्भ है जिसे अनदेखा कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। इस प्रथम कहानी में ही प्रसाद का कहानीकार उस समय के अनुरूप पर्याप्त परिपक्वता के साथ सामने आता है। इतनी परिपक्वता के साथ कि अपने दूसरे संग्रह 'प्रतिध्वनि' में ही यह परिपक्वता नहीं है। कहानी की भाषा-शैरी भी अनेक स्थानों पर ऐसे जीवनंगधी संस्कार लिए हुए है जो प्रसाद की बाद की कहानियों में अलभ्य हो गए हैं। बाद में कलात्मकता के आग्रह के प्रसाद अपने को कहानी की भाषा से अलग करते चले जाते हैं, काव्यात्मकता मधु-वेष्ठन की प्रवृत्ति उनमें बढ़ जाती है। वैयक्तिक रोमान की धारा से हट कर 'ग्राम' का कथ्य भी सामाजिक संपृक्ति का है। 1912 ई. में प्रसाद जी की दूसरी कहानी 'रसिया बालम' प्रकाशित होती है और इसी वर्ष (1912 ई. में) हिंदी का पहला कहानी-संग्रह 'छाया' भी उन्हीं का है।

1911 ई. में शिवपूजन सहाय की 'हठी भगत जी' कहानी के प्रकाशन का उल्लेख भी मिलता है। 1913 ई. में 'इंदु' में राधिकारमणप्रसाद सिंह की प्रसिद्ध कहानी 'कानों में कंगना' प्रकाशित हुई। यह प्रसादीय शैली में भावुकता, के धरातल पर प्रेम-चित्राण की बड़ी महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी-कला की दृष्टि से 1913 ई. में प्रकाशित इस कहानी का अत्यंत विशिष्ट स्थान है। कथ्य और प्रस्तुति, दोनों दृष्टियों से यह कहानी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। ध्यातव्य है कि अभी हिंदी में प्रेम है कि अभी हिंदी मं प्रेम चित्राण की अनोखी कहानी 'उसने कहा था' (गुलेरी) प्रकाशित नहीं हुई थी। प्रेमचंद भी हिंदी कहानी में अभी नहीं आए थे। प्रसाद जी कभी प्रारंभिक कहानियाँ ही प्रकाशित हो रही थीं। इस कहानी की कथा-संगठना अत्यंत सगुंफित (कॉपेक्ट), सुगठित और अभिव्यक्ति रोमानी-बोध युक्त होते हुए भी अत्यंत सहज, भावपूर्ण और नाटकीय है। अतीत गौरव, प्राकृतिक सुषमा, आदि का अत्यंत रसपूर्ण

कहानी में प्राप्त होता है, जिससे पाठक आद्योपांत कथा-रस में डूबा रहता है। कहानी में उपमानों की छटा भी अपनी एक नई धज किए लिए हुए है। मई, 1913 ई. की 'इंदु' में ही पं. पारसनाथ त्रिपाठी की 'सुख की मौत' कहानी प्रकाशित हुई, जिसने इस परंपरा को और पुष्ट किया। हास्य कहानियों के क्षेत्रा में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम कहानी (1910-11 ई. में, ठीक रचना-वर्ष इसलिए नहीं दिया जा सकता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसका प्रकाशन-वर्ष 'ग्राम' का ही देते हैं, 'ग्राम' का प्रकाशन वर्ष द्विवेदी जी 1911 ई. में देते हैं जबकि इसका प्रकाशन-वर्ष 1910 ई. में हुआ, हास्यरस की इस प्रथम कहानी का उल्लेख उन्होंने ही अपने इतिहास में किया है) 'पिकनिक' प्रकाशित हुई। सन् 1911 ई. में 'भारत मित्रा' में पं. चंद्रधर शर्मा गलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' प्रकाशित हुई।

सन् 1914 ई. हिंदी कहानी के इतिहास में इसलिए महत्त्वपूर्ण वर्ष है कि इस वर्ष हिंदी कहानी के पुरोधा प्रेमचंद की प्रथम कहानी 'परीक्षा', 'प्रताप' के विजयदशमी अंक में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि हिंदी में प्रकाशित उनकी प्रथम कहानी के रूप में 'मौत' (दिसम्बर, 1915) तथा 'पंच परमेश्वर' (1916) के नाम लिए जाते रहे हैं, किंतु नवीनतम शोध के प्रकाशन में यह स्थापित हो चका है कि प्रेमचंद की प्रथम हिंदी कहानी 1914 ई. में ही प्रकाशित हुई।

हिंदी कहानी के इतिहास में 1915 ई. का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष दो बातों के लिए हिंदी कहानी अविस्मरणीय है। प्रथम, इस वर्ष की जून 1915 ई. की 'सरस्वती' में पं. चंद्रधर शर्मा की गुलेरी की कालजई कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई, दूसरे इसी वर्ष 'सरस्वती' के दिसंबर अंक में प्रेमचंद की कहानी 'सौत' प्रकाशित हुई। 'उसने कहा था' के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है, यहाँ इतना ही कहना अलम होगा कि हिंदी कहानी अथवा भारतीय भाषाओं की कहानी के इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व-कथा के इतिहास में कदाचित् ही कोई ऐसा दूसरा कहानीकार हुआ हो जिसे अपनी एक ही कहानी के बल पर इतनी ख्याति मिली हो। हिंदी में तो अपने जन्म से लेकर आज तक यह कहानी उतने की चाव से चढ़ी जाती है, उसकी यश-काया पर काल की वात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। कथ्य, शैली-शिल्प, भाषा-संस्कार, सभी दृष्टियों से यह कहानी बेजोड़ है। हिंदी कहानी मं प्रेमचंद एक युग-पुरुष के रूप में आते हैं। हिंदी में आने से पहले प्रेमचंद उर्दू में पर्याप्त चर्चा पा चुके थे। हिंदी में 1914 ई. में उनकी 'परीक्षा' तथा 1915 ई. की 'सरस्वती' के दिसंबर अंक में 'सौत' प्रकाशित हो जाती हैं, कि उन्हें वास्तविकता मान्यता और प्रसिद्धि 1916 ई. की 'सरस्वती' के जून अंक में प्रकाशित कहानी 'पंच परमेश्वर, से ही प्राप्त हुई, यद्यपि इससे पूर्व 1916 ई. की 'सरस्वती' के ही मार्च अंक में उनकी 'सज्जनता का दंड' प्रकाशित हो चकी थी। इस प्रकार 1916 से हिंदी में 'प्रेमचंद यग' मान सकते

हैं। 'पंच परमेश्वर' के प्रकाशित होते ही हिंदी ने प्रेमचंद को और प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को विकास के राजपथ पर अग्रसर कर दिया और स्वयं उसके ऐसे प्रकाश-स्तंभ बने जिसने आज भी हिंदी कहानी दिशा लेती है। अनेक आंदोलनों की आँधी जब-जब थमी है, कहानी ने पीछे मुड़ कर प्रेमचंद की ओर देखा है। हिंदी कहानी को सामाजिक सरोकारों से जोड़ना प्रेमचंद का बहुत बड़ा दाय है। अब वह राजन्य वर्ग या अलौकिक चरित्रों की बात न कर, सामान्य मनुष्य की बात करने लगी और वह मेरी-तेरी, उसकी-सबकी बात कहने लगी। कहानी को युग के ज्वलंत प्रश्नों और चिंताओं से जूझना प्रेमचंद ने ही सिखाया। 1915 ई. के वर्ष में ही 'दुलाई वाली' की प्रसिद्ध रचनाकार बंग महिला' की 'हृदय-परीक्षा' नामक 'सरस्वती' के अगस्त अंक में प्रकाशित मौलिक कहानी है। 1915 ई. में ही विशमभरनाथ जिज्जा की 'विदीर्ण हृदय' कहानी प्रकाशित हुई। 1916 ई. में प्रेमचंद की 'शंखनाद' कहानी भी प्रकाशित हुई थी। 1916 ई. का वर्ष प्रेमचंद की 'पंच परमेश्वर' के कारण ही महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु इस वर्ष कई महत्त्वपूर्ण कहानीकार और कहानियाँ प्रकाश में आईं। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की प्रथम कहानी 'रक्षा-बंधन' अक्तूबर 1916 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। 1915-16 ई. में पं. ज्वालादत्त शर्मा हिंदी कहानी में आते हैं। 1916 ई. की 'सरस्वती' में लगातार उनकी कहानियाँ आई हैं। फरवरी अंक में 'स्वामी जी' तथा दिसंबर अंक में 'विधवा'। निश्चय ही वे इस समय के महत्त्वपूर्ण कहानी लेखक हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' कहानी नम्बर, 1916 ई. की 'सरस्वती' में 'आख्यायिका' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह कहनी में भाभी के प्रेम की एक टीस-सी देवर के मन में रह जाती है. क्योंकि स्मति-चिहन के पश्चात तो हिंदी कहानी का क्रम बडा तेजी से चल पड़ा।

वस्तुतः प्रेमचंद-पूर्व युग हिंदी कहानी का शैशव काल है। इस काल की कहानी एक ओर अपने को अंगरेज़ी बंगला और संस्कृत कथाओं के प्रभाव मुक्त करती है तो दूसरी ओर अपनी एक नई राह बनाने का भी उपक्रम करती है। प्रारंभिक कहानियों में यदि कथ्य और शिल्प के स्तर पर एक अपरिपक्वता भी है तो दूसरी ओर प्रसाद, गुलेरी तथा प्रेमचंद तक आते-आते, 'ग्राम', 'कानों में कंगना', 'उसने कहा था', 'सौत', 'पंच परमेश्वर' जैसी परिपक्व और समृद्ध कहानियाँ भी मिलती हैं। प्रारंम्भिक युग में अपने शैशव के कच्चेपन से निकल कर कहानी अपने यौवन की पुष्टता को पाने लगती है। जीवन का यथार्थ अपनी संपूर्ण विद्रूपताओं में चित्रित होने लगता है, किंतु उनका समाधान आदर्श के मानवीय चरित्रों के विश्लेषण में भी इस समय प्रवृत्त होने लगती है। द्विवेदी युग की इतिवृतात्मकता और नैनिकता का प्रभाव किसी न किसी रूप में कहानी पर भी खड़ा है और 'सरस्वी' संपादक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस यग की हिंदी कहानी का मिजाज और महावरा भी निश्चित किया है।

संदर्भ

1. "इंशा अल्ला खाँ ने 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' संवत् 1855 और 1860 के बीच लिखी होगी।"—आचार्य रामचंद्र शक्ल. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 396 (संस्करण पंद्रहवाँ)
2. "...सन् 1850-1700 और कुछ उसके बाद तक कथा-साहित्य (फिक्शन) को उपन्यास कहने का चलन था।
सन् 1900 में 'सरस्वर' में छपी कहानी (अर्थात् 'इंदुमती') को भी उन्होंने उपन्यास कह कर ही छापा है।...सरस्वती' के हीरक जयंती विशेषांक में बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी के, कहानी कहा गया है, जबकि लोग उसे उपन्यास कहते हैं।"—डॉ. बच्चसिंह, 'सारिका', दिसंबर 1976 ई.।
4 द्रष्टव्य 'संचेतना' 1952, 'हिंदी की पहली मौलिक कहानी 'ईसाई' (दिसंबर 1979. मार्च 1980) मिशनरियों द्वारा लिखी गई।
4. 'हिंदी साहित्यक का इतिहास, पृष्ठ 439।
5. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 423 (संस्करण 1952)
6. देवीप्रसाद वर्मा, 'सारिका', फरवरी 1968 अंक।
7. डॉ. बच्चनसिंह, 'सारिका', दिसंबर 1976 अंक।
8. प्रसंगात् यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जनवरी 1977 ई. की 'सारिका' में 'स्व. माधवराम सप्रे की कथा-यात्रा' शीर्षक लेख में कई जगह 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को कदाचित् प्रेस-भूल के कारण एक टोकनी भर मिट्टी' लिखा गया है. किंत कुछ पुस्तकों में टोकनी भर ही उदधत किया गया. जो ग़लत है।
9. 'सारिका' दिसम्बर 1976 अंक।
10 'हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 424 तथा 425।
11. द्रष्टव्य 'सरस्वती'. सितम्बर. 1910 ई.

हिन्दी भाषा की वर्तनी

कल्पना

हिन्दी भाषा की सामग्री का आधुनिक मशीनों पर मुद्रण होने के साथ ही इसके शब्दों की हिज्जे (वर्तनी) की समस्या उठने लगी। बहुत दिनों तक हिन्दी के प्रकाशकों की इस विषय में कोइ नीति नहीं होती थी और मनमानी वर्तनी का प्रयोग होता था। कालान्तर में कुछ सम्पादकों ने इस विषय पर ध्यान दिया। उदाहरण के लिए बाबू राव विष्णु पराड़कर के सम्पादकत्व में दैनिक 'आज' (वाराणसी, तब काशी) ने हिन्दी वर्तनी के कुछ नियम बनाये जो उस समाचार पत्र मे प्रयुक्त होते रहे। जहाँ तक हमारी जानकारी है, नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रकाशनों में भी वर्तनी के कुछ नियम बरते जाते थे। इसी बीच गुजरात/वर्धा से महात्मा गांधी, काका कालेलकर और तदनन्तर विनोबा भावे ने भी अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लि नागरी वर्तनी में परिवर्तन किये। ये परिवर्तन सरलीकरण की दिशा में किये गये थे। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के बाद कई हिन्दी भाषी राज्यों में इस सम्बन्ध में समितियाँ बनीं। उस समय सारी चिन्ता इस बात की होती थी कि किस तरह हिन्दी की छपाई को आसान बनाया जाए। चूँकि मुद्रण के लिए 'कमपोजिंग' सीसे के टाइपों से होती थी और मात्राओं आदि के कारण इन टाइपों की संख्या अंग्रेजी की तुलना में बहुत अधिक हो जाती थी, कम्पोजिटर लोगों को सामने अत्यधिक खानों में रखे टाइपों से चुनना श्रमसाध्य हो जाता था।

हिन्दी वर्तनी में बहुत सारे सुझाव हर समिति की सिफारिशें मान कर उन राज्यों मे अलग-अलग वर्तनियों में हिन्दी भाषा लिखी जाने लगी। भारत सरकार के राज्यभाषा विभाग के अन्तर्गत चलने वाली संस्थाओं ने भी यदा कदा वर्तनी के नियम बनाये थे। अपनी बनायी तकनीकी शब्दावली के उपयोग के सम्बन्ध में तो उनका आग्रह दिखायी देता है। लेकिन वर्तनी के पालन के लिए कुछ मोटी बातों को छोड़ कर कोई स्पष्ट आग्रह नहीं है। श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन ने अपने द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं के लिए अन्य अपेक्षित नियमों के साथ वर्तनी

*हैदराबाद से प्रकाशित श्रेष्ठ साहित्यिक मासिक पत्र 'कल्पना' (1949-1978) के सम्पादक मण्डल द्वारा हिन्दी की वर्तनी में एकरूपता लाने के लिए निधारित।

के नियम भी बनाये थे जिनका उपयोग होता था। पर उनके हटते ही उनके द्वारा सम्पादित पत्र भी उनके बताये गये मार्ग से विपथगामी हो गये।

कभी यह प्रयत्न नहीं हुआ कि सभी हिन्दी लेखन, प्रकाशन और समाचार पत्रों से सम्बद्ध लोग मिल कर एक मानक वर्तनी सुनिश्चित कर लें और उसका दृढ़ता से उपयोग करें। ऐसा नहीं है कि आज कल कुछ लोग किन्हीं वर्तनी के नियमों का पालन नहीं करते हैं। पर अधिकांश क्षेत्र में अराजकता व्याप्त है। सारे हिन्दी लिखने-पढ़ने वाले लोगों और पत्र-पत्रिका-समाचार पत्र निकालने और सम्पादित करने वाले लोगों में इसकी चिन्ता होनी चाहिए।

***चिन्तन-सृजन** हिन्दी भाषा और इसकी वर्तनी के मानकीकरण का पक्षधर है। वह क्रमशः अपने प्रकाशन का मानकीकरण करने में सक्रिय है। हम चाहते हैं कि हम जिन नियमों और रूपों का पालन और उपयोग करते हैं वह वैसे ही हों जैसा हिन्दी का उपयोग करने वाले सभी लोग करते हों। हमने इस सम्बन्ध में डेढ़ दो सौ वर्षों तक अराजकता ही चलने दी है। अब यह अराजकता हिन्दी में अहिन्दी शब्दों के व्यापक उपयोग के कारण भाषा को ही समाप्त कर देने वाली है। इसके कारण हिन्दी क्षेत्र में सोच विचार की शक्ति भी क्षीण होने लगी है। अब यह अवस्था समाप्त होनी चाहिए।*

***चिन्तन-सृजन** एक वर्तनी का पालन कर रहा है। जरूरी नहीं कि यही वर्तनी हिन्दी-नागरी की मानक वर्तनी बन जाये। हिन्दी नागरी की मानक वर्तनी बहुत से लोग मिल कर बनायेंगे। यह हिन्दी क्षेत्र के शिष्ट वर्ग का सामहिक प्रयास होना चाहिए तभी सभी लोग एक तरह की वर्तनी का पालन करेंगे।*

हम यहाँ पर हैदराबाद से निकलने वाली हिन्दी की साहित्यिक श्रेष्ठ पत्रिका 'कल्पना' द्वारा हिन्दी वर्तनी के मानकीकरण की दिशा में किये गये प्रयत्न की ओर सभी निर्णयकर्ताओं का ध्यान दिलायेंगे। 'कल्पना' अब दुर्भाग्यवश नहीं प्रकाशित हो रही है। परन्तु उसकी दाय को हमें स्वीकार करना चाहिए। इस दाय में श्रेष्ठ साहित्य के मानदण्डों के अतिरिक्त हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण भी है। हिन्दी वर्तनी के मानकीकरण की बात को आगे बढ़ाने के लिए और इस पर एक सामूहिक सहमति बनाने का प्रयास करने की दिशा में हम 'कल्पना' में प्रकाशित एतद्विषयक सामग्री को यहाँ पुनः उद्धृत कर रहे हैं। एक लघु पत्रिका द्वारा प्रस्तावित होने के कारण इस प्रयास को नजरन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। आशा है सभी सम्बद्ध लोग इस पर ध्यान और समय देंगे और हिन्दी के लिए काम करने वाली कोई संस्था सामने आएगी और इस सम्बन्ध में सामहिक निर्णय करवाएगी।

—कमलेश

'कल्पना' (अगस्त-अक्तूबर, 1950) में प्रकाशित वर्तनी विषयक लेख

हिन्दी-शब्दों के रूपों और उनके हिज्जों, वाक्य रचना आदि से सम्बन्धित प्रश्नों में कल्पना की रुचि शुरू से रही थी। और उसने अपने आरम्भिक अंकों से ही अपनी एक मानक वर्तनी बनाने की कोशिश तो की ही थी. चाहती यह भी रही थी कि उसके द्वारा

प्रस्तावित बातों पर एक विमर्श भी हो। कल्पना का प्रकाशन स्थगित हो जाने के बाद भी, बदरीविशालजी एक पुस्तिका के रूप में कल्पना के हिज्जों सम्बन्धी विमर्श को लेखकों-पत्रकारों आदि के पास प्रेषित करते रहे थे। हम उस पस्तिका की सामग्री को यहाँ फिर से प्रस्तुत कर रहे हैं।

किसी जीवित भाषा को--उसके व्याकरण, मुहावरों, शब्दों तथा उनके हिज्जों और उसकी वाक्य-रचना आदि को सुनिश्चित नियमों में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। प्रत्येक जीवित भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, कुछ स्वभावतः और कुछ बाह्य प्रभावों के कारण। साथ ही प्रत्येक भाषा के स्वरूप में कुछ-न-कुछ विभिन्नताएँ 'प्रान्तीयता' के कारण भी आती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही शब्द के अनेक रूप, एक ही वाक्य की अनेक योजनाएँ, एक ही मुहावरे के अनेक प्रकार, प्रयोग में आने लगते हैं, और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें से कौन-सा 'शुद्ध' है और कौन-सा 'अशुद्ध'। संस्कृत जैसी सुव्यवस्थित भाषा में भी अनेक शब्दों के एक से अधिक रूप प्रचलित थे--और पाणिनि जैसे वैयाकरण-शिरोमणि भी उन रूपों में से किसी एक को 'शुद्ध' और दूसरे को 'अशुद्ध' नहीं कह पाये : उन्हें 'विकल्प' का ही आश्रय लेना पड़ा। और यही दशा संसार की प्रत्येक भाषा की रही है, और रहेगी। भाषा मानव-मस्तिष्क की सष्टि है. उसे गणित के से नियमों से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा में 'शुद्ध'-'अशुद्ध' कुछ है ही नहीं, जो जैसा चाहे, लिख और बोल सकता है। यदि इस प्रकार की पूरी स्वछन्दता दे दी जाए तब तो एक दिन यह दशा हो सकती है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग ही भाषा बन जाए, जिसे दूसरे समझ भी न सकें। इसलिए, भाषा को हम पूर्णतया नियमबद्ध भले ही न कर पाएँ, व्याकरण और शिष्ट प्रयोग का जितना अधिक नियन्त्रण रखा जा सके, रखना आवश्यक है। यह हो सकता है कि किसी शब्द का जो रूप आज शिष्ट-सम्मत और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, वह कुछ समय के बाद वैसा न रहे किन्तु जब तक कोई नया, परिवर्तित रूप मान्य न बन जाए, तब तक प्रचलित रूप को अविकृत रखने का प्रयत्न करना ही चाहिए। भाषा को यथासम्भव अविकृत रखना उसे एक स्थिर रूप देना लेखकों और साहित्यकारों का काम है: 'साधु भाषा' के संरक्षक वे ही हैं। 'लोक भाषा' अपनी प्रकृति और रुझानों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है, किन्तु वह भी 'साधु भाषा' से कुछ-न-कुछ प्रभावित होती ही है।

हिन्दी के व्याकरण, हिन्दी-शब्दों के रूपों और उनके हिज्जों, वाक्य-रचना आदि से सम्बन्धित बीसियों बातें ऐसी हैं, जिनके विषय में अभी तक मतभेद अथवा सन्देह बना हुआ है। विचारशील लेखक और विद्वान समय-समय पर इस सम्बन्ध में लिखते रहे हैं और हिन्दी के स्वरूप को स्थिरता देने की चेष्टा करते रहे हैं। किन्तु स्थिरता तथा नियमितता जैसी एक सविकसित भाषा में होनी चाहिए. वैसी हिन्दी में अभी तक

नहीं आ सकी है। इसका कारण जो भी रहा हो, हिन्दी को एक सुनिश्चित, व्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता अब, हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर लिये जाने के बाद, पहले से कहीं अधिक बढ़ गयी है। अब तक हिन्दी केवल एक प्रान्तीय भाषा थी, उसके स्वरूप को स्थिर करना या न करना हिन्दी-भाषियों का अपना मामला, अपना धन्धा था। किन्तु अब हिन्दी पूरे राष्ट्र की चीज है उसका स्वरूप क्या है, क्या नहीं इससे अ-हिन्दी-भाषियों को भी उतना ही प्रयोजन है, जितना हिन्दी-भाषियों को। आज प्रान्त-प्रान्त में, लाखों की संख्या में, अ-हिन्दी-भाषी हिन्दी सीख रहे हैं। उन्हें हिन्दी की उपर्युक्त अव्यवस्थाओं के कारण कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है? इसका अनुभव उनके प्रत्येक अध्यापक को होता है। बेचारा अध्यापक प्रायः स्वयं ही सन्देह में रहता है कि अमुक शब्द का अमुक रूप शुद्ध है, अथवा अमुक! पुस्तकों में हिन्दी प्राइमरों तक में कहीं एक रूप मिलता है, कहीं दूसराः कहीं लड़के ने, घर में, नदी पर हैं, तो कहीं लड़के ने, घर में, नदी पर कोई वह गए लिखता है, कोई वे गये अभी आइए, चलिए, चाहिए मिलते हैं, कभी आइये, चलिये, चाहिये एक जगह चल कर, जाकर दीखते हैं, तो दूसरी जगह चल कर, जा कर। इसी प्रकार मूर्ति-मूर्त्ति, धर्म-धर्म्म, सत्व-सत्त्व, पीडा-पीड़ा, मूढ-मूढ़, हंसी-हँसी, इसलिये-इसलिए, नये-नए, रखा-रक्खा, कवितायें-कविताएँ, यह-ये, इत्यादि बीसियों शब्दों के दो-दो, तीन-तीन रूप विभिन्न पुस्तकों में कभी-कभी एक ही पुस्तक में मिलते हैं, और विद्यार्थियों के साथ-साथ अध्यापकों को भी चक्कर में डालते रहते हैं। यह परिस्थिति हिन्दी-भाषियों के लिए लज्जा-जनक है। व्याकरण, मुहावरे और शैली की बारीकियों को जाने दीजिए, उपर्युक्त सामान्य बातों की भी कोई निश्चित व्यवस्था हिन्दी-भाषी अभी तक नहीं कर पाये! हमारी दृष्टि में, इस अव्यवस्था को दूर करना आज हिन्दी की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह काम एक व्यक्ति के वश का नहीं, इसमें हिन्दी के सभी विद्वानों, लेखकों और भाषा-विज्ञानियों का सहयोग अपेक्षित है। और इस कार्य का प्रारम्भ अविलम्ब होना चाहिए। हम सब उपर्युक्त कोटि की विभिन्न समस्याओं पर विचार करके उनके विषय में निर्णय करें, और फिर उन निर्णयों को नियमित रूप से प्रयोग में ला कर हिन्दी-जगत में उनकी मान्यता स्थापित कर दें, तभी यह अव्यवस्था दूर हो सकेगी।

'कल्पना' इस कार्य में यथाशक्ति सहायता करेगी। विचारशील पाठकों से प्रार्थना है कि वे उपर्युक्त प्रकार के प्रश्नों के विषय में अपने अपने सुझाव सम्पादक के पास भेजने की कृपा करें। सभी उपयोगी और तर्क-संगत सुझाव 'कल्पना' के अगले अंकों में प्रकाशित किये जायेंगे और यदि कोई पाठक इन सुझावों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति भेजेंगे, तो वह भी यथावसर प्रकाशित की जाएगी। हमें विश्वास है कि इस प्रकार के विचार-विनिमय द्वारा हम अनेक बातों का निर्णय कर सकेंगे।

इस अंक में हम पहले अपनी ओर से ही दो सझाव उपस्थित करते हैं।

1. पहले विभक्तियों का प्रश्न लीजिए। इस सम्बन्ध में दो मत हैं- कुछ लोग विभक्तियों को शब्दों से मिला कर लिखते हैं (रामने), कुछ अलग रखते हैं (राम ने)। अलग रखने वाले भी प्रायः सर्वनामों के साथ आने वाली विभक्तियों को मिला कर ही लिखते हैं (उसने, मुझको)। श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' में (पृ. 361) इन दोनों मतों का उल्लेखमात्र किया है, अपनी सम्मति नहीं दी। विभक्तियों के सम्बन्ध में पहले हिन्दी-विद्वानों में विवाद हो चुका है, किन्तु उसके फल-स्वरूप कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सका, इसका उल्लेख भी 'अच्छी हिन्दी' में है। इस विवाद में दोनों पक्षों ने क्या-क्या युक्तियां दी थीं, यह हमें विदित नहीं हो सका। किन्तु बहुत विचार करने के बाद हम इसी सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि विभक्तियों को शब्दों से अलग ही रखना उचित है। इस सिद्धान्त के समर्थन में हमारी युक्तियां निम्नलिखित हैं।

(अ) ऐतिहासिक दृष्टि से, को, ने, से, में, पर, का, की, के तथा के लिए--सभी विभक्ति-चिह्न--स्वतन्त्र शब्द हैं, जो क्रमशः परिवर्तित होते-होते अपने वर्तमान रूपों में, आ गये हैं (देखिए धीरेन्द्र वर्मा, 'हिन्दी भाषा का इतिहास' पृ. 242-246)। अर्थात, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से को, ने आदि को शब्दों से अलग रखना न्याय्य हैः ठीक उसी तरह जैसे अंग्रेजी के ीं, लू, रीं, षी आदि को। यह ठीक है कि आज इन चिह्नों का अपना स्वतन्त्र अर्थ नहीं है. किन्त यह बात तो भी. ही. तो आदि अव्ययों के बारे में भी कही जा सकती है।

(आ) हिन्दी-भाषी इन चिह्नों के स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यह इसी से सिद्ध है कि शब्द और विभक्ति के बीच में ही का प्रयोग बेखटके किया जाता है- इसी से, इसीलिए, रात ही में, लड़के ही को। कहा जा सकता है कि ये प्रयोग 'अशुद्ध' हैं, इनके स्थान पर इससे ही, इसलिए ही, रात में ही, लड़के को ही कहना और लिखना चाहिए। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग प्रचलित हो चुके हैं, इन्हें 'अशुद्ध' कैसे कहा जा सकता है? इन्हें 'अशुद्ध' मान भी लें तो, सीता-वियुक्त राम के प्रति पशुओं तक ने संवेदना प्रकट की, इस वाक्य में पशुओं और ने के बीच में बैठे हुए तक को क्या आप अस्थानस्थ कह सकते हैं? इसे कैसे 'शुद्ध' करेंगे? पशुओं ने तक?

(इ) इन चिह्नों की स्वतन्त्र सत्ता इससे भी सिद्ध है कि स-विशेषण संज्ञा के साथ हम एक ही विभक्ति-चिह्न का प्रयोग करते हैं--अच्छे लड़के ने कहा, उस आदमी को बुलाओ। इन वाक्यों में ने और को का सम्बन्ध अच्छे और उससे भी है और लड़के और आदमी से भी। अच्छे लड़के ने कहा लिखने पर अच्छे लटका ही रह जाता है- ने तो लड़के ने का अविभाज्य अंश है, अच्छे के साथ जुड़ नहीं सकता। अब या तो अच्छे लड़केने लिखिए, या फिर अच्छे-लड़केने। किन्तु यह कहाँ तक उचित है? अच्छे स्वयं एक 'पद' (विभक्त्यन्त शब्द) है, इसे दूसरे 'पद' के साथ कैसे मिलाया जा सकता है? यहाँ मिला भी लीजिए तो उन तीनों दष्ट लडकों को बलाओ में क्या करेंगे? इस वाक्य

में--को को आप लड़कों को का अविभाज्य अंश मानें तो उसका सम्बन्ध उन, तीनों और दुष्ट के साथ तभी हो सकता है, जब आप या तो उन तीनों दष्ट-लडकों को लिखें और या फिर उन-तीनों-दुष्ट-लड़कों को!

(ई) को, ने आदि विभक्तियाँ लगाने पर भी शब्दों के अपने रूप ऐसे विकृत नहीं हो जाते कि उनका पृथक् अस्तित्व पहचानने में किसी प्रकार की कठिनता होती हो। विकृति केवल इतनी ही होती है कि आकारान्त पुल्लिंग शब्दों के एक वचन में आ के स्थान पर ए हो जाता है, और बहुवचन में सभी शब्दों में--ओं जुड़ जाता है--लड़के ने, घोड़े को, रातों में, वृक्षों पर, लड़कियों ने, बहुओं को, माताओं से आदि। इन सभी विभक्त्यन्त्र रूपों में मूल शब्द लगभग अविकृत ही हैं और स्पष्ट पहचाने जाते हैं। (मित्र से मैत्री, बन्धु से बान्धव. इतिहास से ऐतिहासिक इत्यादि शब्दों के रूप-परिवर्तन से तलना कीजिए।)

(उ) कोई भाषा जितनी अधिक अश्लिष्ट अथवा अयोगात्मक होती है, उतनी ही वह सरल होती है। अर्थ-तत्त्व (मूल शब्द) और सम्बन्ध-तत्त्व (विभक्तियाँ, प्रत्यय आदि) एक-दूसरे से जितने अधिक स्वतन्त्र रहें, उतना ही अच्छा है। हिन्दी अभी सर्वथा अयोगात्मक नहीं है, किन्तु उसका रुझान इसी ओर है। हम उसे जितना अधिक अयोगात्मक बना सकेंगे, उतनी ही अधिक सरलता से अ-हिन्दी-भाषी उसे सीख सकेंगे। एक अ-हिन्दी-भाषी को औरों को, रेखाकी, सिरका, आसानीसे, चलनेवालोंने, गुरुजीपर, अराजकताका--इस प्रकार छपे अथवा लिखे हुए शब्द समझने में बहुत कठिनता होती है। अ-हिन्दी-भाषी ही क्यों, स्वयं हिन्दी-भाषी भी रेखाकी, भावजने, गलमसे, कागजपर लिखा पढ़ा कर एक क्षण के बाद ही समझ पायेंगे। मन का और मनका, सिर का और सिरका, छल की और छलकी, पट पर और पटपर (चौरस, सम-तल), जल से और जलसे, जल ने और जलने, डर ने और डरने इत्यादि के लिखने में कोई भेद न रक्खा जाए, तो हिन्दी सीखने वालों की कठिनता तो बढेगी ही. अनेक स्थलों पर हिन्दी जानने वालों को भी भ्रम हो सकता है।

विभक्तियों को शब्दों के साथ मिला कर लिखने में क्या औचित्य, क्या लाभ है, हम नहीं जानते। इतना अवश्य है कि इनके बीच का स्पेस निकल जाने से कागज की कुछ बचत हो जाती है, किन्तु दूसरी ओर गड़बड़ें इतनी आ जाती हैं कि कागज का 'अपव्यय' करना ही अधिक उचित मालूम होता है।

जो बात संज्ञाओं के सम्बन्ध में है, वही सर्वनामों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उससे, मैंने, आप को, तुम पर लिखना उतना ही ठीक है, जितना राम से, लड़के ने, गाय को, सड़क पर। संज्ञा और सर्वनाम में भेद केवल इतना है कि विभक्तियाँ लगाने पर संज्ञाओं के रूप बहुत कम विकृत होते हैं और उन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है, किन्तु सर्वनामों के रूप प्रायः ऐसे परिवर्तित हो जाते हैं कि उन्हें पहचानना लगभग असम्भव हो जाता है। कर्त-कारक में ही. वह और वे. यह और ये

तथा तू और तुम में तो कुछ पारस्परिक सम्बन्ध लक्षित होता भी है, मैं और हम एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अन्य कारकों में परिवर्तन की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है : उस, उन, उन्हों तथा इस, इन, इन्होंका सम्बन्ध न वह और यह से जुड़ता है, न वे और ये सेय इसके अतिरिक्त, इसे, इन्हें, उसे, उन्हें, मेरा, मुझे, हमारा, हमें, तेरा, तुझे, तुम्हारा, तुम्हें आदि रूपों की विभक्तियाँ सर्वथा भिन्न हैं, और इन विभक्तियों को मूलतत्त्व से अलग भी नहीं किया जा सकता। इन भेदों के आधार पर सर्वनामों की सभी विभक्तियों को मिला कर लिखना न्याय-संगत माना जा सकता है।

2. संज्ञाओं के सम्बन्ध में दी हुई उपर्युक्त प्रायः सभी युक्तियाँ पूर्वकालिक क्रियाओं- चल कर, जा कर, खा कर आदि- के सम्बन्ध में भी दी जा सकती हैं। चलकर, जाकर, खाकर लिखने में संक्षेप भले ही हो जाता हो, ऐसा लिखना युक्ति-संगत और पाठक के लिए सुविधा-जनक नहीं है। भाषा-इतिहास की दृष्टि से यह कर एक स्वतन्त्र शब्द है (संस्कृत' कृय प्राकृत करिया-करिअ हिन्दी करि-कर), प्रत्यय नहीं हैं और इसी प्रकार चल, जा, खा आदि भी धातु मात्रा नहीं हैं, प्रत्यय-युक्त पूर्वकालिक रूप हैं (संस्कृत' चल्य प्राकृत चलिय-चलिअ हिन्दी चलि-चल)। कर को मिला कर लिखने का सिद्धान्त मान लिया जाए तो पढ़-लिख कर, मिल-जुलकर, खा-पी कर, आदि क्रियाओं को पढ़लिखकर, मिलजुलकर, खापीकर अथवा पढ़-लिखकर, मिल-जुलकर, खा-पीकर लिखना पड़ेगा, जिससे लाभ तो कुछ नहीं होगा, व्यर्थ शब्दों की लम्बाई बढ़ जाएगी। आकर (खान) और आ कर, पाकर (वृक्ष) और पा कर, जला कर और जलाकर (जलाशय) सी कर और सीकर (जल-कण) इत्यादि में परस्पर भेद रखने के लिए भी पूर्वकालिक क्रियाओं के कर को अलग लिखना ही उचित है।

इसी प्रकार, जा रहा है, जा चुका, आ गया, पी लिया, खो दिया, सुन रक्खा है, मार डाला, चल पड़ा, कर बैठा, हो सका इत्यादि संयुक्त क्रियाओं में भी दोनों अंशों को अलग-अलग लिखने में अधिक सरलता तथा सुविधा है।

इस बार हम इन्हीं दो बातों के सम्बन्ध में अपने सुझाव पाठकों के सामने रखते हैं। अगले अंकों में अन्य विवादास्पद विषयों की भी विवेचना करेंगे। पाठकों से अनुरोध है कि इन सुझावों के सम्बन्ध में अपनी सम्मतियां तथा अन्य सझाव भी. हमारे पास अविलम्ब भेजने की कपा करें।

-'कल्पना'.अप्रैल, 1950

कल्पना-2

पिछले अंक में हमने हिन्दी के विभक्ति-चिह्नों और पूर्व कालिक करके सम्बन्ध में अपने सुझाव प्रस्तुत किये थे। इस बार हम कछ शब्दों के रूपों के सम्बन्ध में अपने विचार पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

(1) गये-गए, गयी-गई, आये-आए (भूतकाल), आयी-आईय नये-नए. नयी-नईय पराये-पराए. परायी-पराईय लिये-लिए (क्रिया) इत्यादि।

आधुनिक हिन्दी में उपर्युक्त दोनों रूप, कम या अधिक मात्रा में, प्रचलित हैं। इनमें से कौन-सा 'शुद्ध' माना जाए? हमारी सम्मति में इन सभी शब्दों के य-वाले रूप ही मान्य हैं, क्योंकि स्त्रीलिंग अथवा बहुवचन में विकृति-प्राप्त इन शब्दों की प्रकृति (मूल-रूप) है पुल्लिंग एकवचन के रूप : गया, आया, लिया, नया, पराया आदि। गया का बहुवचन गये और स्त्रीलिंग गयी ही होना चाहिए, गए और गई नहीं। यह ठीक है कि आजकल गयी और आयी की अपेक्षा गई और आई का ही प्रयोग अधिक होने लगा है, किन्तु य-वाले रूप व्याकरण की दृष्टि से भी मान्य हैं और इसलिए भी कि वे अपने मूल-रूपों (पुं. एक.) से स्पष्ट समानता रखने के कारण अ-हिन्दी भाषियों के लिए सुबोध हैं—जैसे लड़का-लड़के-लड़की, ठीक वैसे ही गया-गये-गयी और आया-आये-आयी। हिन्दी-भाषियों को गयी, आयी आदि के प्रयोग में, प्रारम्भ में, कुछ असुविधा हो तो भी इन्हें अपना लेना उचित होगा। और यही बात पराये:परायी तथा नये:नयी के विषय में भी कही जा सकती है। लिये-लिए के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि यदि हम लिया का बहुवचन केवल लिये स्थिर कर दें तो लिए को केवल विभक्ति-चिह्न मान कर इन दोनों रूपों का प्रयोग-विभाजन कर सकते हैं, जो स्पष्ट ही उपयोगी सिद्ध होगा। (लिया का स्त्रीलिंग लियी होता तो अच्छा ही था. किन्त विवशता है : ली को हटाया नहीं जा सकता!)

बहुवचन का--ए और स्त्रीलिंग का--ई वहीं ठीक हैं जहाँ पल्लिंग एकवचन में--आ हो, जैसे हुआ-हुए-हुई अथवा छुआ-छुए-छुई।

'अच्छी हिन्दी' (पंचम संस्करण, पृ. 310-11) में उपर्युक्त विविध रूपों का निर्देशमात्र किया गया है, कोई निश्चित मत नहीं दिया गया। दिखायी और सुनायी के विषय में 'अच्छी हिन्दी' के विद्वान् लेखक ने (पृ. 310) जो संकेत किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सर्वत्र दिखाई, सुनाई आदि का ही प्रयोग उचित समझते हैं, दिखायी, सुनायी आदि नहीं। किन्तु जब हम गाना सुनाया और खेल दिखाया लिखते हैं, तब बात सुनायी और पुस्तक दिखायी भी क्यों न लिखें? दृश्य दिखाई दिया और शब्द सुनाई पड़ा आदि वाक्यों में दिखाई, सुनाई मूलतः संज्ञाएँ हैं, इनको--भूतकालिक क्रियाओं दिखायी. सनायी से स्पष्टतया भिन्न रखने के लिए--इसी रूप में रक्खा जाए तो अच्छा ही है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आयी, गयी, रोयी, खोयी, सोयी, दिखायी, सुनायी, पड़ायी, बतायी, आदि रूप हमें कुछ खटकेंगे अवश्य, किन्तु राष्ट्र-भाषा को यथासम्भव सुबोध तथा व्यवस्थित बनाने के लिए हमें इन रूपों को मान लेना चाहिए।

(2) आए-आये-आवेय जाए-जाय-जाये-जावेय पिए-पियेय रोए-रोये-रोवेय कराए-कराये-करावे इत्यादि।

इन आज्ञार्थक तथा सम्भावनार्थक क्रियाओं (तथा इनके बहुवचनों) के विविध रूपों में से कौन-सा ग्राह्य है? चले. करे. पडे आदि अकारान्त (अथवा हलन्त) धातओं

के इन्हीं रूपों में केवल-ए लगता है। आये, आवे, जाय, जाये, जावे आदि के मूल में भी-ए ही है, -य-अथवा -व- आगममात्र हैं, (कहीं सन्धि-हेतुक और कहीं भ्रम-मूलक)। फलतः हम -य- और -व- को हटा कर केवल-ए को ही सार्वत्रिक कर दें, तो ये रूप व्यवस्थित हो सकते हैं। आए, जाए, पिए आदि आज्ञार्थक रूपों में सर्वत्र केवल-ए लिखने से विशेष लाभ यह होगा कि हम भूतकालिक बहुवचन के रूपों-आये, पिये आदि-से इनकी भिन्नता स्पष्टतया प्रदर्शित कर सकेंगे। इनके बहुवचन बनाने के लिए-ए को सानुनासिक कर देना पर्याप्त है-आएँ, जाएँ, पिएँ, रोएँ, कराएँ।

इन सम्भावनार्थक रूपों आए, आएँ आदि में-गा (-गो), -गे (-गी) जोड़ने पर भविष्यत् काल के क्रमशः प्रथम तथा मध्यम पुरुष के एकवचन और प्रथम तथा उत्तम पुरुष के बहुवचन बन जाते हैं- वह आएगा (आएगी), तू आएगा (आएगी), वे आएँगे (आएँगी), हम आएँगे (आएँगी)। भविष्यत् के अन्य पुरुषों और वचनों के रूप, ठीक इसी तरह, सम्भावनार्थक रूपों में गा, -गे जोडने से बनते ही हैं- मैं आऊँ-आऊँगा (आऊँगी), तुम आओ-आओगे (आओगी)।

सम्भावनार्थक रूपों में-गा,-गी,-गे जोड़ कर भविष्यत् के रूप बनाने की यह प्रक्रिया हमारा आविष्कृत गुर नहीं है, अपितु भाषा-वैज्ञानिक तथ्य है। (देखिए. प्रो. धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी भाषा का इतिहास' पृ.321।

उपर्युक्त सुझाव मान लिया जाए तो भविष्यत् के रूपों की भी जो विविधता हिन्दी में आज दिखाई देती है, वह दूर हो सकती है : जायगा, जायेगा, जावेगा तथा, जायँगे, जायेंगे, जावेंगे के स्थान पर जाएगा तथाजाएँगे, औरजायँगी, जायेंगी, जावेंगी अथवा (जैसे कुछ लोग लिखते हैं) जायँगीं, जायेंगीं, जावेगीं, जावेंगीं के स्थान पर केवल जाएँगी मान लेने में कितनी सुविधा और सुव्यवस्था है, यह स्पष्ट है।

'सम्भावना' अथवा 'आज्ञा' के उत्तम पुरुष एकवचन का चिह्न--ऊँ और मध्यम पुरुष बहुवचन का- ओ है- आऊँ, चलूँय आओ, चलो। किन्तु इन्हें ईकारान्त धातुओं में प्रायः -यूँ, -यो का रूप दे दिया जाता है- पियूँ, जियूँय पियो, जियो। इन्हें भी पिऊँ, जिऊँय पिओ, जिओ ही क्यों न लिखा जाए? उच्चारण की दृष्टि से पियूँ और पिऊँ अथवा पियो और पिओ का भेद है। लिखने में यदि-ऊँ,-ओ को ही मान्यता दे दी जाए तो सभी को सुविधा रहेगी। (पीऊँ, जीऊँ आदि दीर्घ -ई- वाले रूप त्याज्य हैं।)

'आदरार्थ आज्ञा' के रूपों में भी हिन्दी में विविधता वर्तमान है--आइये. आइएय सनिये. सुनिएय होइये, होइएय हूजिये, हूजिए इत्यादि।

'साधारण आज्ञा' के साथ आंशिक एकरूपता के लिए तथा यहाँ अनावश्यक -य- की (टाइपिस्टों और कम्पोड़िटरों की दृष्टि से) बचत के लिए यहाँ भी केवल -ए- को ही मान्यता देना उचित होगा। हूजिये अथवा हजिऐ त्याज्य है. होइए से काम चल सकता है. और यही रूप नियमानकल भी है।

चाहिए, चाहिये में से भी चाहिए ही ग्राह्य है। चाहिए का प्रयोग (अपेक्षा, आवश्यकता और औचित्य के अर्थ में) क्रिया के स्थान पर होता है--और वस्तुतः यह है भी क्रिया ही-, किन्तु आधुनिक हिन्दी में इसका रूप एक अव्यय का हो गया है : सभी 'पुरुषों' और 'वचनों' में चाहिए ही बोला और लिखा जाता है--आपको क्या चाहिए, मुझे दो डमड़ी चाहिए, तुम्हें वहां जाना चाहिए, उसे दोनों किताबें पड़ना चाहिए, आपको ऐसा नहीं चाहिए इत्यादि। किन्तु कुछ लोग अपेक्षित वस्तु अथवा कार्य के बहुवचन में होने पर चाहिए का भी बहुवचन बना कर चाहिएँ लिखते हैं--मुझे दो कपड़े चाहिएँ, उन्हें ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिएँ। हमारी सम्मति में इन दोनों वाक्यों में चाहिए ही बोलना और लिखना चाहिए। यह ठीक है कि अर्थ की दृष्टि से चाहिए एक कर्म-वाच्य क्रिया है, और फलतः 'कर्म' में बहुवचन होने पर 'क्रिया' में भी बहुवचन अपेक्षित हैय किन्तु रूप की दृष्टि से चाहिए अव्यय बन चुका है (अन्यथा इसमें लिङ्ग-भेद भी होता!), इसे 'वचन' के नियमों में बाँधना अनावश्यक है। (आश्चर्य है कि श्री रामचन्द्र वर्मा ने अपने 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में तो चाहिए को अव्यय माना है. और 'अच्छी हिन्दी' में बहवचन के लिए सर्वत्र चाहिएँ का प्रयोग किया है!)

(3) धर्म-धर्म्मय परिवर्तन-परिवर्त्तनय मर्ति-मर्त्तिय सौन्दर्य-सौन्दर्य्यय अर्ध-अर्द्धय वर्धन-वर्द्धनय मूर्छा-मूर्च्छाय त्व और-त्त्व।

ये सभी शब्द संस्कृत के हैं। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार दोनों प्रकार के (एक व्यंजन वाले और 'द्वित्व' वाले) रूप शुद्ध हैं। किन्तु हिन्दी में यह द्विविधता अनावश्यक है। उच्चारण की दृष्टि से दोनों रूप समान हैं, फिर सीधा-सादा धर्म और सौन्दर्य छोड़ कर धर्म्म और सौन्दर्य्य क्यों लिखा जाए? अर्द्ध, वर्द्धन और मूर्च्छा लिखना व्यर्थ है--यहाँ हम न -द- का उच्चारण करते हैं, न -च- काय अर्ध, वर्धन और मूर्छा ही लिखना ठीक है। मूर्त्ति और परिवर्त्तन लिखने में क्या लाभ है. क्या औचित्य है. जो हमें मर्ति और परिवर्तन में नहीं मिलता?

और यही बात-त्व-प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में भी कही जा सकती है। कवित्त्व, मनुष्यत्त्व, देवत्त्व, अमरत्त्व, घनत्त्व आदि शब्दों में -त- का द्वित्व करना सर्वथा निष्प्रयोजन है : कवि, मनुष्य आदि सभी शब्द अकारान्त हैं, -त्व प्रत्यय लगाने पर कवित्व, मनुष्यत्व आदि ही बन सकते हैं, कवित्त्व, मनुष्यत्त्व आदि नहीं (संस्कृत-व्याकरण की बात जाने दीजिए)। -त्त्व केवल वहीं लिखना उचित है जहाँ किसी तकारान्त शब्द में -त्व प्रत्यय लगाया गया हो, जैसे तत्त्व (तत्‌त्व), सत्त्व (सत्‌त्व) और महत्त्व (महत्‌त्व) में। अन्य सभी शब्दों को केवल एक- ट - लिख कर 'हलका' ही रहने दिया जाए, तो अच्छा है। ('अच्छी हिन्दी', पृ. 313 पर 'द्वित्व' के सम्बन्ध में जो-कछ कहा गया है. उसका अधिकांश भ्रामक है।)

(4) ड-ड्य ढ-ढ़

ड़ और ढ़ हिन्दी की ध्वनियाँ हैं, संस्कृत की नहीं। हाँ, वैदिक संस्कृत में इनसे मिलती-जुलती ध्वनियाँ ळ और ळ्ह अवश्य थीं, पर वह बात अलग है। (हिन्दी ड़, ढ़ का विकास वैदिक ळ, ळ्ह से नहीं हुआ है)। फलतः संस्कृत से लिये हुए तत्सम शब्दों में ड़, ढ़ लिखना अवांछनीय है : संस्कृत के किसी भी शब्द में ड़ या ढ़ है ही नहीं, सर्वत्र ड या ढ ही है। यह ठीक है कि हिन्दी में दो स्वरों के बीच में आने वाले ड, ढ को ड़, ढ़ ही बोला और लिखा जाता है, किन्तु यह परिवर्तन केवल तद्भव अथवा देशी शब्दों में हो सकता है, तत्सम शब्दों में नहीं। संस्कृत जड से उद्भूत जाड़ा और गाढ से उद्भूत गाड़ा में ड़ औरढ़ लिखना ठीक है, पर स्वयं जड (मूर्ख) और गाढ (घना) शब्दों में ड और ढ ही लिखे जा सकते हैं। इसी प्रकार उडु, गूढ, मूढ, रूढ, रूढि, प्रौढ, ताडन, ताडित, पीडा, क्रीडा, व्रीडा आदि शब्दों में ड और ढ के नीचे बिन्दु नहीं लगाना चाहिए, भले ही हिन्दी-भाषियों में इनका उच्चारण उड़ु गूढ़, मूढ़ आदि होता हो। उच्चारण तो हम ऋतु और ऋषि का भी रितु और रिषि करते हैं, पर इन शब्दों के तत्सम होने के कारण इन्हें लिखते ऋ से ही हैं, कष्ट और रोष में उच्चारण के अनुसार श न लिखकर-ष-लिखने का कारण भी इन शब्दों का तत्सम होना ही है। तब फिर तत्सम मूढ, पीडा आदि को मूढ़, पीड़ा आदि लिखने में क्या औचित्य अथवा लाभ है? प्रत्युत संस्कृत जड़ (मखी) और हिन्दी जड (मल) जैसे शब्दों की एकरूपता हो जाने से कछ हानि ही है।

'अच्छी हिन्दी', (पृ. 316) में ड औरड़ तथा ढ और ढ़ के भेद का स्पष्टीकरण है, किन्तु उपर्युक्त अव्यवस्था के विषय में कुछ नहीं कहा गया। 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' की प्रस्तावना (पृ. 5) में भी इन अक्षरों की भिन्नता का निर्देश है और कहा गया है कि कोश में इस 'अन्तर का भी बहुत-कुछ ध्यान रखा गया है।' किन्तु हमें इस कोश में उपर्युक्त सभी शब्द ड़, ढ़ से लिखे हुए मिले--और कोश में इन्हें माना भी तत्सम गया है। कोश के विद्वान लेखक ने न जाने किस आधार पर यह मान लिया कि संस्कृत में भी ये सब शब्द ड़. ढ़ से लिखे जाते हैं। (अन्य हिन्दी-कोशों की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है।)

(5) अनुनासिक, अनुस्वार तथा पॅचमाक्षर।

अनुस्वार और अनुनासिक (चन्द्र-बिन्दु) दो सर्वथा भिन्न ध्वनियाँ हैं। अनुस्वार 'बंद' ध्वनि है (म् अथवा न्) अनुनासिक 'खुली'। हंसी (=हन्सी, पक्षिणी) और हँसी (हँसने की प्रक्रिया) पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी में अनुनासिक के स्थान पर प्रायः अनुस्वार लिखने की प्रथा चल पड़ी है- हंसना, पूंछ, मुंदना, आंख, क्यों, हैं, हूं, जाऊं इत्यादि। कहना नहीं होगा कि इन सभी में बिन्दु के स्थान पर चन्द्रबिन्दु ही होना चाहिए। अनुनासिक की उपेक्षा का कारण कुछ तो लेखकों का आलस्य और असावधानी (अथवा अज्ञान!) है और कछ प्रेस-सम्बन्धी

असुविधा। जो भी हो, अनुस्वार और अनुनासिक के अन्तर का पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है--विशेषतः उन शब्दों में जहाँ इस अन्तर की उपेक्षा करने से पाठकों को भ्रम हो सकता हो, जैसे हंस और हँस अथवा रंग और रँग (ना) में। अच्छा तो यही होगा कि हम प्रत्येक सानुनासिक शब्द में, हैं, मैं, में, जैसे बहुप्रयुक्त शब्दों में भी, अनुनासिक ही लिखने की आदत डाल लें। दूसरी ओर इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हम अनस्वार के बदले अननासिक न लिख जाएँ--ढंग को ढँग और रंग को रँग न बना दें।

संयोग में किसी अन्य व्यंजन से पूर्व पंचमाक्षरों का प्रयोग हिन्दी के तद्भव और 'देशी' (अथवा विदेशी) शब्दों में सर्वथा अनावश्यक है--कङ्घा, चङ्गा, घमण्ड, डण्डा, बन्द, पन्थ, सन्त, पम्प, चम्बल, खम्भा आदि में ङ्, ण, न, म् नलिखकरकंघा, चंगा, घमंड आदि लिखने में अधिक सुविधा है। यहाँ इन पंचमाक्षरों का उच्चारण अनुस्वार (न, म) से सर्वथा अभिन्न है--इन सभी शब्दों में अनुस्वार लिखने से काम चल सकता है, फिर, 'संयोग' का बोझ क्यों लादा जाए? हाँ, संस्कृत से लिये हुए तत्सम शब्दों में यथास्थान ङ्,ं, ण, न, म् का प्रयोग करना उचित होगा--पङ्क, शङ्ख, गङ्गा, सङ्घ, मंच, मंजु, कण्टक, कण्ठ, पण्डित, दन्त, मन्थन, मन्दिर, सन्ध्या, कम्पन, गुम्फन, अम्बा आदि। संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार किसी व्यंजन के पूर्व उसी 'वर्ग' का पंचमाक्षर आ सकता है, जिस 'वर्ग' का वह व्यंजन हो, अन्य वर्ग का नहींय फलतः कन्ठ. पन्डित. मन्जु आदि रूप 'अशुद्ध' हैं, इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

'कल्पना' के अप्रैल और जून के अङ्कों में हमने हिन्दी के कुछ विभक्ति-चिह्नों और शब्द-रूपों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये थे। इस अङ्क में भी हम हिन्दी भाषा के स्थिरीकरण से सम्बन्धित कछ और सझाव पाठकों के सामने रखते हैं।

वह--वेय यह--ये

वह का बहुवचन वे अब प्रायः सर्वमान्य हो चुका है--यद्यपि कुछ लोग अब भी वह ही लिखते हैं। कोई-कोई लेखक वास्तविक (अनेकत्व-वाचक) बहुवचन में वे लिखते हैं और आदरार्थक बहुवचन में वह। यह विभाजन अनावश्यक और असङ्गत है। दोनों प्रकार के बहुवचनों में क्रिया के रूप एक-से ही रहते हैं--'दो आदमी आये हैं, वे आपसे मिलना चाहते हैं', 'मेरे पिता आये हैं, वह (वे) आपसे मिलना चाहते हैं।' फलतः वह का बहुवचन सदा वे ही लिखना और बोलना चाहिए।

किन्तु वह का बहुवचन वे प्रायः सर्वमान्य हो चुका है, वहाँ यह का बहुवचन ये बहुत कम लिखा जाता है : अधिकांश लेखक यह ही लिखते हैं। वास्तव में यह केवल एकवचन का रूप है. बहवचन के लिए सदा ये का ही प्रयोग करना चाहिए।

-एँ, -यें

इकारान्त और ईकारान्त (तथा कुछ याकारान्त) शब्दों को छोड़ कर प्रायः समस्त स्त्रीलिङग शब्दों के प्रथमा बहवचन का चिह्न हिन्दी में-एँ है। अकारान्त (अर्थात

व्यंजनान्त) शब्दों में यह -एँ अन्तिम व्यंजन से जुड़ जाता है : रात-रातें, चाल-चालेंय अन्य शब्दों में ज्यों का त्यों रहता है : कविता-कविताएँ, मैना-मैनाएँ, हवा-हवाएँ, बहू-बहुएँ, गौ-गौएँ।किन्तु बहुत-से अच्छे-अच्छे लेखक भी इन शब्दों के बहुवचन में--यें लगाते हैं, विशेषतः आकारान्त शब्दों में : कवितायें, प्रार्थनायें, विशेषतायें इत्यादि। इस-य- का आगम सम्भवतः इकारान्त, ईकारान्त शब्दों के प्रभाव से हुआ है, जिनके प्रथमा बहुवचन में (-आँ के स्थान पर)-याँ जुड़ता है : रुचि-रुचियाँ, लड़की-लड़कियाँ--किन्तु इकारान्त, ईकारान्त शब्दों में -आँ (संस्कृत-आनि) के पहले -य- का आगम सन्धि-नियम के अनुसार है--इआँ का उच्चरित रूप स्वभावतः--इयाँ हो जाता है। कविता-एँ आदि में इस प्रकार का य् आगम अनावश्यक है। उच्चारण की दृष्टि से भीकविताएँ लिखना ही अधिक शुद्ध है. और अन्य स्त्रीलिङग शब्दों के बहवचन-रूपों के साथ एकरूपता के लिए भी।

-सा

-सा वस्तुतः एक प्रत्यय है, स्वतन्त्र शब्द नहीं है। इसका उद्गम संस्कृत के -श प्रत्यय से हुआ है। फलतः जिस शब्द में यह लगाया जाए उससे मिला कर ही लिखा जाना चाहिए। किन्तु स्पष्टता के लिए, शब्दों की लम्बाई न बड़ने देने के लिए, और--सा के बहुवचन--से की विभक्ति चिह्न से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए इसे योग-चिह्न (हाइफन) के साथ लिखा जाए तो उचित होगा। और यह नियम-सा के लिए सार्वत्रिक होना चाहिए--वह किसी भी अर्थ (सादृश्य, परिमाण, निर्धारण) अथवा रूप (-सा, -सी, -से) में प्रयुक्त हुआ होः कमल-सा, छोटे-से, बहुत-से, कौन-सी इत्यादि। 'शशि-से सुन्दर मुख को देखा' और शशि से सुन्दर मुख को देखा. के अर्थ भेद पर ध्यान देने से यहाँ योग-चिह्न की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

-मात्र

-मात्र संस्कृत का प्रत्यय है, जो वास्तव में मात्र शब्द से उद्भूत होने पर भी संस्कृत में केवल प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी ने यह प्रत्यय संस्कृत से, तत्सम रूप में लिया है, इसलिए इसका प्रयोग संस्कृत-व्याकरण के अनुसार ही होना चाहिए। और हम सामान्यतः करते भी ऐसा ही हैं : -मात्र को हम केवल संज्ञाओं और विशेषणों के मूल-रूपों में लगाते हैं, क्रियाओं और सर्वनामों में अथवा संज्ञा और विशेषणों के विकृत रूपों में नहीं लगाते--करते-मात्र थे, वह-मात्र, तुम-मात्र, बातों-मात्र, कविताएँ-मात्र इत्यादि प्रयोग अशुद्ध समझे जाते हैं। इतना ही नहीं,--मात्र का प्रयोग हम प्रायः संस्कृत शब्दों के साथ ही करते हैं--रोटी-मात्र, सड़क-मात्र, रात-मात्र, लड़की-मात्र इत्यादि प्रयोग हमें भद्दे लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत-प्रकृति हमने अभी अक्षुण्ण रक्खी है। तब फिर हम इसका प्रयोग संस्कृत की भाँति एक प्रत्यय के ही रूप में. अर्थात शब्द से मिला हआ लिख कर (नाममात्र. सङ्केतमात्र). अथवा

(स्पष्टता के लिए) योग-चिह्न के साथ लिख कर (नाम-मात्र, सङ्केत-मात्र) क्यों न करें? नाम मात्र, सङ्केत मात्र लिखना अशुद्ध भी है, और अनावश्यक भी। मात्र को हिन्दी ही का पर्याय मान कर उसी की तरह प्रयोग करना भूल है।

किन्तु इससे भी बड़ कर भूल है—मात्र का केवल की तरह प्रयोग करना। 'केवल, उसकी उदासी दूर नहीं हुई' के स्थान पर, 'मात्र उसकी उदासी दूर नहीं हुई' लिखना बिल्कुल अक्षम्य है। -मात्र का यह प्रयोग हिन्दी में सम्भवतः बंगला के प्रभाव से आया है। जो भी हो, है यह सर्वथा त्याज्य ही। केवल जैसे सरल, सुलभ शब्द के रहते हुए उसके स्थान पर -मात्र का अशब्द प्रयोग करना किसी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता।

श्री

नाम या पद के पहले आदर-सूचक श्री शब्द के प्रयोग की प्रथा हिन्दी में संस्कृत से ही आयी है। संस्कृत में श्री को श्रीमत् का संक्षिप्त रूप मान कर शब्द के साथ ही लिखा जाता है--'श्रीगुरुभ्यो नमः', 'श्रीकालिदासः कविः'। तदनुसार हिन्दी में भी 'श्रीसुमित्रानंदन पंत' और 'श्रीगुरु जी' लिखना उचित ही है। किन्तु ऐसा करने में दो गड़बड़ आ जाती हैं। एक तो जिन नामों का प्रारम्भ ही श्री से हो, जैसे श्रीराम, श्रीनाथ, श्रीपति आदि, उनमें आदर-सूचक श्री जोड़ने पर श्रीश्रीराम, श्रीश्रीनाथ लिखना पड़ता है, जो स्पष्ट ही भद्दा लगता है। इसकी अपेक्षा श्रीश्रीराम, श्रीश्रीनाथ आदि लिखना कहीं अधिक समंजस है। दूसरे, अब सरकारी तौर पर श्री का प्रयोग अब तक के मिस्टर के स्थान पर किया जाने लगा है और मिस्टर अथवा मि. को सदा अलग ही लिखा जाता है, इसलिए श्री को भी नाम या पद से अलग लिखना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। श्री--सहित राम शर्मा और श्रीराम शर्मा में भेद रखने के लिए भी श्री को अलग ही लिखना ठीक है। फिर दो शब्दों वाले नामों या पदों में श्री को मिला कर लिखने पर गडबड और भी बड जाती है।

जी

सम्मान-सूचक जी को शब्द से मिला कर लिखा जाए या अलग? गुरुजी या गुरु जी? रामनाथजी या रामनाथ जी? हमारी सम्मति में जी को अलग ही लिखना उचित है। गुरुजी, पिताजी, माताजी लिखने की प्रथा हिन्दी में चल पड़ी है। इनके स्थान पर गुरु जी, पिता जी, माता जी लिखने में, प्रारम्भ में, कुछ असुविधा जान पड़े तो भी इन्हें ऐसा ही लिखना इसलिए आवश्यक है कि नामों के आगे आने वाले 'जी' को मिला कर लिखने पर अनेक गड़बड़ें हो जाती हैं : रामनाथजी चल सकता है, पर गोवर्धनदास द्वारिकादासजी या कन्हैयालाल माणिकलालजी में जी का सम्बन्ध नाम दूसरे (गौण) अंश के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ जाता है, और पहला (प्रधान) अंश अ-सम्मानित ही रह जाता है। जी को अलग रखने पर यह गड़बड़ नहीं होती, वह दोनों अंशों के साथ समान रूप से सम्बन्धित रहता है। जी का प्रयोग प्रायः अंग्रेजी के एंीं. के स्थान

पर किया जाता है, इस दृष्टि से भी, और फिर स्पष्टता के लिए भी. इसे अलग लिखने में ही अधिक सविधा और व्यवस्था है।

वाला

वाला का प्रयोग-वान् अथवा-कार (कर्ता) के अर्थ में एक प्रत्यय के रूप में होता है, किन्तु जिस संज्ञा अथवा विशेषण में यह लगाया जाता है वह अपने मूल रूप में नहीं, अपितु विकृत रूप में रक्खा जाता है--पैसे वाला, करने वाला, पत्तों वाला इत्यादि। इसके अतिरिक्त वाला का प्रयोग आसन्न-भविष्य के अर्थ में भी किया जाता है--'मैं आज-कल में वहाँ जाने वाला हूँ'। इस प्रकार के प्रयोगों में क्रिया-पद और वाला के बीच मेंहीभी, अत्यन्त आसन्नता सूचित करने के लिए, रख दिया जाता है--'मैं जाने ही वाला था कि रामनाथ जी आ गये'। इससे स्पष्ट है कि वाला को हम अविभाज्य प्रत्यय नहीं समझते। फलतः इसे सम्बन्धित शब्द से अलग लिखना अधिक उचित होगा। इसमें आपत्ति हो तो योग-चिह्न के साथ लिखा जा सकता है. किन्त जाने ही वाला आदि प्रयोगों में योग-चिह्न लगाना कठिन होगा।

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क. नवीन शाहदरा. दिल्ली-32 द्वारा मद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि. विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

We Strive
to Satisfy
Our Customers

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848